राम से गांधी

गोविंद दास

राम से गाँधी

लेखक की अन्य पुस्तकें

हर्ष
शशिगुप्त
कर्ण
प्रकाश
पंचभूत
स्नेह या स्वर्ग
सेवापथ
पाकिस्तान
संतोष कहाँ ?
महत्त्व किसे ?
दुःख क्यों ?
दलित कुसुम
पतित सुमन
त्याग या ग्रहण
हिंसा या अहिंसा
नवरस
ग़रीबी या अमीरी
प्रेम या पाप
कुलीनता

(एकांकी संग्रह)
सप्तरश्मि
चतुष्पथ
बड़ा पापी कौन
एकादशी
अष्टदल

राम से गाँधी

गोविन्ददास

प्रगति प्रकाशन

नई दिल्ली

निवेदन

मानव-जीवन को ज्ञान और शान्ति के प्रशस्त मार्ग पर डालने के लिए महापुरुषों के जीवन सदैव प्रकाश-स्तम्भ का काम देते रहे हैं। उनके आदर्श की महानता मानवमात्र के जीवन का संबल बनती आयी है और उनके उदाहरणों को अपने सम्मुख रखते हुए मनुष्य-जाति पथ-भ्रष्ट होने से बचती रही है।

महापुरुषों के जीवन मानव के सम्मुख जितने भी रूप में प्रस्तुत किये जायँ उतने ही रूप में वह उनसे लाभान्वित होगा। इस पुस्तक की रचना का पहला दृष्टिकोण यही है। महापुरुषों का जीवन प्रस्तुत करने में एक ख़तरे की बात यह है कि लेखक उनके प्रभाव में आकर जनश्रुतियों और किम्वदन्तियों का शिकार बन सकता है; किन्तु श्रद्धा और विनय से विलग न होते हुए भी लेखक ने इसमें वर्णित महा-पुरुषों को एक मर्यादित रूप में ही चित्रित किया है। उनके मानवीय रूप को उनसे भिन्न नहीं होने दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रद्धा की पीठ पर यदि विवेक और ज्ञान का हाथ होगा तो हम इन कथाओं से अधिक लाभ उठायेंगे।

त्रेतायुग से आज तक के महानतम जीवनों का नाट्यरूप में परिचय दिलाते हुए लेखक ने राम के जीवन की मर्यादाप्रियता और महान् उत्सर्ग को ही मुख्य रूप से चित्रित किया है। कर्त्तव्य में रत रह कर भी राम ने सदा मर्यादा-पालन को सर्वोच्च स्थान दिया.

है। उनकी मर्यादा कर्त्तव्य की परिपोषिका रही है, विरोधिनी नहीं। द्वापरयुगीय कृष्ण का चरित्र इससे विलग चित्रित किया गया है। कृष्ण ने कर्त्तव्य को मर्यादा से भी ऊपर स्थान दिया है—उन्होंने मथुरा से पलायन क्यों किया, नारी-लीलाओं में क्यों पड़े और फिर महाभारत जैसे युद्ध के प्रवर्त्तक और निमित्त कारण कैसे बने। इस पर विचार करें तो यही कहना पड़ता है कि कर्त्तव्य के आगे उन्होंने मर्यादा को कभी महत्त्व नहीं दिया। इसी प्रकार बुद्ध, ईसा और वर्तमान युग के महामानव गांधी ने विकास के उज्ज्वलतम प्रतीक के रूप में जो कुछ किया वह क्लान्त मानवता के लिए विश्रान्ति की आशा और सहारा था। उन्होंने अपने-अपने युग में मानवता को घोर पतन की ओर लुढ़कने से बचाया है—ऐसा करते समय उन्हें प्रशस्ति भी मिली है और लाञ्छना भी; किन्तु जिस मानव-कल्याण का लक्ष्य उनके सम्मुख था उसके सामने उन्होंने लोकस्तुति या लोकापवाद की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

आशा ही नहीं विश्वास है कि पाठक इन नाट्य-चरित्रों से न केवल जीवन पर वास्तविक प्रभाव डालने वाली प्रेरणा प्राप्त करेंगे प्रत्युत उनके अध्ययन से अपने अन्दर एक नवस्फूर्ति एवं उत्साह का अनुभव करेंगे।

'राम से गांधी' लेखक की एकाकार ग्रन्थमाला की प्रथम भेंट है और उसे आशा है कि यह पाठकों के लिए अधिक उपयोगी और सन्तोषप्रद सिद्ध होगी।

—गोविन्ददास

सूची

कर्तव्य

नाटक के पात्र, स्थान

पूर्वार्द्ध—

पुरुष—

(१) राम—प्रसिद्ध मर्यादा-पुरुषोत्तम
(२) लक्ष्मण—राम के छोटे भाई
(३) वसिष्ठ—सूर्यवंश के कुल-गुरु
(४) वाल्मीकि—प्रसिद्ध ऋषि
(५) शम्बूक—शूद्र तपस्वी

स्त्री—

(१) सीता—राम की पत्नी
(२) सरमा—विभीषण की पत्नी
(३) बासन्ती—वाल्मीकि की पाली हुई कन्या

अन्य पात्र—

अयोध्या के पुरवासी, किष्किन्धा के वानर, भालू, लंका के राक्षस, प्रतिहारी

स्थान—अयोध्या, पंचवटी, किष्किन्धा, लंका, दण्डकारण्य, वाल्मीकि का आश्रम

उत्तरार्द्ध—

पुरुष—

(१) **कृष्ण**—प्रसिद्ध लीला-पुरुषोत्तम
(२) **बलराम**—कृष्ण के बड़े भाई
(३) **उद्धव**—कृष्ण के मित्र
(४) **अर्जुन**—प्रसिद्ध पाण्डव

स्त्री—

(१) **राधा**—कृष्ण की सखी
(२) **रुक्मिणी**—कृष्ण की पत्नी
(३) **द्रौपदी**—पाण्डवों की पत्नी

अन्य पात्र—

व्रजवासी गोप-गोपी, मथुरा तथा द्वारका के पुरवासी और भौमासुर के यहाँ की कन्याएँ

स्थान—गोकुल, मथुरा, द्वारका, कुण्डनपुर, प्राग्ज्योतिषपुर, इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, प्रभासक्षेत्र

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या में राम के प्रासाद का एक कक्ष

समय—उषःकाल

[कक्ष पुराने ढंग का बना हुआ है। कक्ष की छत विशाल पाषाण-स्तंभों पर स्थित है। प्रत्येक स्तंभ के नीचे गोल कमलाकार कुम्भी (चौकी) और ऊपर गजशुण्ड के समान भरणी (टोड़ी) है। कुम्भियों और भरणियों पर खुदाव हैं, जिसपर सुवर्ण का काम है और यत्र-तत्र रत्न जड़े हैं। तीन ओर भित्तियाँ हैं, जो सुन्दर रंगों से रँगी हैं और चित्रकारी से भी विभूषित हैं। तीनों ओर की भित्तियों में दो-दो द्वार हैं, जिनकी चौखटें और कपाट चन्दन के बने हैं। इन चौखटों और कपाटों में खुदाव का काम है और यत्र-तत्र हाथीदाँत लगा है। द्वार खुले हैं और इनसे बाहर के उद्यान का थोड़ा-थोड़ा भाग दिखायी देता है, जो उषःकाल के प्रकाश से प्रकाशित है। कक्ष की धरती पर केशरी रंग का बिछावन बिछा है। इस पर स्वर्ण की चौकियाँ रखी हैं, जिन पर गद्दे बिछे हैं और तकिये लगे हैं। चार चाँदी की दीवटों पर सुगन्धित तैल के दीप जल रहे हैं। राम खड़े हुए

आभूषण पहन रहे हैं। सीता पास में एक सुवर्ण के थाल में आभूषण लिये हुए खड़ी हैं। राम लगभग पचीस वर्ष के अत्यन्त सुन्दर युवक हैं। वर्ण साँवला है। कटि से नीचे पीले रंग का रेशमी अधोवस्त्र धारण किये हैं। कटि के ऊपर का भाग खुला हुआ है। हाथों में सुवर्ण के रत्न-जटित वलय, भुजाओं पर केयूर और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ धारण किये हैं। ललाट पर केशर का तिलक है। सिर के लम्बे केश लहरा रहे हैं, और मूँछें-दाढ़ी नहीं हैं। सीता लगभग अट्ठारह वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती हैं। नीली रेशमी साड़ी पहने हैं, और उसी रंग का वस्त्र वक्षस्थल पर बँधा है। रत्न-जटित आभूषण पहने हैं। ललाट पर इंगुर की टिकली और माँग में सेंदुर है। लम्बे बालों का जूड़ा पीछे बँधा है, जो साड़ी के वस्त्र से ढँका है। पैरों में महावर लगा है। दोनों के मुख पर हर्ष-युक्त शांति विराज रही है। सीता के नेत्र लज्जा से कुछ नीचे को झुके हुए हैं, जो उनकी स्वाभाविक मुद्रा जान पड़ती है।]

राम—(हार पहन चुकने पर कुण्डल पहनते हुए) देखना है, प्रिये, इस महान् उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक सफल होता हूँ। दायित्व ग्रहण करने के लिए एक पहर ही तो शेष है, मैथिली।

सीता—हाँ, नाथ, केवल एक पहर। सफलता के सम्बन्ध में शंका ही निरर्थक है, आर्यपुत्र। यदि संसार में आपको ही अपने कर्तव्य में सफलता न मिली तो अन्य को मिलना तो असम्भव है।

राम—(किरीट लगाते हुए) परन्तु, वैदेही, किसी कार्य का उत्तरदायित्व संभालने के पूर्व वह कार्य जितना सरल जान पड़ता है उतना दायित्व ग्रहण करने के पश्चात् नहीं। महर्षि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के निमित्त जब मैं लक्ष्मण-सहित उनके संग गया था, उस समय मुझे वह कार्य जितना सरल भासता था, उतना सरल वह न निकला। फिर किसी कार्य को करने के पश्चात् उसके फल का शुभाशुभ प्रभाव हृदय पर पड़े बिना नहीं रहता। ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि को, यद्यपि वह पुराय कार्य के लिए की गयी थी, मैं अब तक हृदय से दूर नहीं कर सका हूँ।

सीता—परन्तु, आर्यपुत्र, प्रजा के पालन और रंजन के लिए तो इस प्रकार के न जाने कितने कार्यों को करना पड़ेगा।

राम—(पीत रेशमी उत्तरीय गले में डालते हुए) हाँ, प्रिये, तभी तो कहता हूँ कि देखना है इस भारी उत्तरदायित्व को संभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। इस सूर्यवंश में महाराज इक्ष्वाकु, भगीरथ, दिलीप, रघु आदि अनेक प्रतापी, वीर, कर्तव्य-परायण और प्रजा-पालक राजा तथा सम्राट् हुए हैं। इस वंश का राज-भार संभालने के लिए जैसे पुष्ट कन्धों, दीर्घ भुजाओं, दृढ़ और साथ ही साथ कोमल हृदय एवं स्पष्ट तथा विशद मस्तिष्क की आवश्यकता है, ज्ञात नहीं, मेरे ये अवयव वैसे हैं या नहीं।

सीता—मेरा इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना पक्षपात ही होगा, नाथ।

राम—(चौकी पर बैठते हुए) नहीं, मैथिली, यह बात नहीं

है। सर्व-साधारण प्रत्येक वस्तु को प्राय: तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं; साधारण वस्तुओं के बीच कुछ भी विशेषता रखनेवाली वस्तु का आदर हो जाता है, पर मेरी परख तो सूर्यवंश के इन महातेजस्वी रत्नों के बीच में मुझे रखकर की जायगी।

सीता—(दूसरी चौकी पर बैठ) और, नाथ, मुझे विश्वास है कि आप उनमें अद्वितीय निकलेंगे।

राम—इसका क्या प्रमाण है, वैदेही? सुबाहु और ताड़का का मैं वध कर सका एवं मारीच को मेरा बाण उठाकर कुछ दूर तक ले जा सका, जिससे महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ, क्या यही इसके लिए यथेष्ट प्रमाण है? मैं धनुष-भंग कर तुम्हारा पाणि-ग्रहण कर सका, क्या इतने से ही यह बात मानी जा सकती है? ये तो मेरे बाहु-बल के प्रमाण हैं। इससे मैं प्रजा का सुशासन कर सकूंगा यह तो सिद्ध नहीं होता।

सीता—क्यों, आर्यपुत्र, इतना ही क्यों? पापिष्ठा अहल्या का आपने उद्धार किया; भगवत्-अवतार परशुराम पर आपने आत्मिक विजय पायी।

राम—इसमें केवल मेरी विशेषता ही नहीं है, मैथिली, इन बातों के अन्य कारण भी थे।

सीता—और, नाथ, आज सारी प्रजा आपको प्राणों से अधिक चाहती है, क्या आपके बिना किसी गुण के ही?

राम—इसका कारण मुझसे की जानेवाली भविष्य की आशा है। न जाने प्रजा ने मुझसे अगणित आशाएं क्यों बांध रखी हैं।

सीता—इसका कारण आप नहीं जान सकते, आर्यपुत्र, पर आपके आत्मीय जानते हैं; आपकी प्रजा, गुरु, माता-पिता, भ्राता जानते हैं, और मैं जानती हूँ, नाथ। निसर्ग ने आपको जैसा हृदय, मस्तिष्क और पराक्रम दिया है वैसा यदि अन्य को मिलता तो वह फूला न समाता, गर्व से उसका मस्तिष्क सातवें लोक को पहुँच जाता, परन्तु आपकी तो दृष्टि तक अपने गुणों की ओर नहीं जाती। अन्य को अपने राई-समान सुगुण भी पर्वताकार दिखते हैं, परन्तु आपको तो अपने पर्वताकार सुगुण राई-तुल्य भी नहीं दिखते। अपने प्रति यह विराग ही तो इस सुगुण रूपी स्वर्ण-मन्दिर का रत्न-जटित कलश है। लोकोपकार में आपका सारा समय व्यतीत होता है, आर्यपुत्र। कर्तव्य ही आपके दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न है।

राम—तुम सबों का मुझमें इस प्रकार के गुणों का अवलोकन और इसके आधार पर मुझसे महान् आशाएँ ही तो मुझे अधिक शंकित बनाये रहती हैं। प्रिये, जिससे जितने अधिक ऊँचे उठने की आशा की जाती है, उसका मार्ग उतना ही अधिक कठिन और दुस्तर हो जाता है। जब वह अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर दृष्टि फेंकता है तब उसकी अत्यधिक ऊँचाई देख उसे अनेक बार शंका हो उठती है कि वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकेगा या नहीं।

सीता—यह शंका उन्हीं के हृदय में अधिक उठती है जो उस स्थान तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं। समर्थ ही सदा शंकित रहता है, असमर्थ को तो कोई भी वस्तु सामर्थ्य के बाहर दृष्टिगोचर नहीं होती।

राम—पर, मैथिली, आदर्श ऊंचा, बहुत ऊँचा है। प्रजा में कोई

भी मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से दुखी न रहे; अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को अपने सर्वस्व की आहुति देनी पड़े तो भी वह पीछे न हटे; राजा के लिए कहीं भी, किसी प्रकार की भी, बुरी आलोचना और अपवाद न सुन पड़े। वैदेही, यह महान् उच्च आदर्श है।

सीता—जो स्वयं जितना उच्च होता है उसका आदर्श भी उतना ही ऊंचा रहता है।

राम—देखना है, प्रिये, कितना कर पाता हूं। पिताजी आज अभिषेक के उत्तरदायित्व के अनुष्ठान का भी आरम्भ कर देंगे। सन्तोष इतना ही है कि फिर भी पिताजी और गुरुजी की अनुभव-शील सम्मति पथ-प्रदर्शक रहेगी; भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न सदृश भ्राता सहायता करेंगे; तीन-तीन पूजनीय माताओं का आशीर्वाद और तुम्हारा प्रेम साथ में होगा। वैदेही, पूज्यपाद दिलीप महाराज को उनकी सन्तान-कामना के अनुष्ठान में जितनी सहायता महारानी सुदक्षिणा से मिली थी, मुझे तुमसे, मेरी कर्तव्य-पूर्ति में, उससे कहीं अधिक मिलनी चाहिए।

[नेपथ्य में वाद्य बजता है।]

राम—(खड़े होकर) यह लो, उषःकाल की प्रार्थना का समय भी हो गया।

[सीता भी खड़ी हो जाती हैं। नेपथ्य में गान होता है।]

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते।
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव प्रसीद॥

यद् यद् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे।
भद्रं भद्रं वितर भगवन् भूयसे मंगलाय॥

[प्रतिहारी का प्रवेश। प्रतिहारी ऊँचा और मोटा वृद्ध व्यक्ति है। केश श्वेत हो गये हैं। सिर के बाल लम्बे हैं, और लम्बी दाढ़ी है। शरीर के ऊपर के भाग में कंचुक (एक प्रकार का लम्बा वस्त्र) और नीचे के भाग में अधोवस्त्र धारण किये है। सिर पर श्वेत पाग है। सुवर्ण के भूषण पहने है। दाहिने हाथ में ऊँची सुवर्ण की छड़ी है।]

प्रतिहारी—(सिर झुका, अभिवादन कर) श्रीमन्, महामंत्री सुमन्त पधारे हैं। श्रीमान् महाराजाधिराज स्वस्थ नहीं हैं, अतः आपका स्मरण किया है।

राम—(चौंककर) अच्छा। मैं अभी उपस्थित होता हूँ।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान।]

सीता—(घबड़ाकर) शुभ अवसर पर यह अशुभ संवाद !

राम—इस संवाद को सुन, ज्ञात नहीं, क्यों मेरे मन में अनेक बुरी-बुरी कल्पनाएँ उठती हैं। (कुछ ठहरकर खड़े होते हुए) अच्छा, प्रिये, मैं चलता हूँ।

सीता—(खड़ी होती हुई) प्राणनाथ, मुझे भी सारा वृत्त शीघ्र ही ज्ञात हो जायगा न ?

राम—हाँ, हाँ, इसमें कोई सन्देह है ?

[राम का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[अनेक खण्डों के भवन दीख पड़ते हैं। एक ओर से दौड़ते हुए एक, और दूसरी ओर से आते हुए दो पुरवासियों का प्रवेश। पुरवासी श्वेत अधोवस्त्र और उत्तरीय पहने हैं। सिर नंगा है, जिस पर बड़े-बड़े केश लहरा रहे हैं। मस्तक पर तिलक लगा है। कानों में स्वर्ण के कुण्डल, गले में हार, भुजाओं पर केयूर, हाथों में वलय और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ हैं।]

एक—(दूसरी ओर से आनेवाले दोनों से) तुमने सुना, क्या, अघटित घटना घटी ?

दूसरा—आज आनन्द के दिन राम-राज्याभिषेक के सम्बन्ध में और कोई आनन्ददायक घटना घटित हुई होगी।

पहला—(लम्बी साँस ले) वही होता तो क्या पूछना था, बन्धु, पर दैव बड़ा दुष्ट है।

तीसरा—(घबड़ाकर) क्यों, क्यों, क्या हुआ ? राजवंश में तो सब कुशल है ?

पहला - (लम्बी साँस ले) नहीं।

दूसरा—(घबड़ाकर) नहीं! इसका क्या अर्थ ? तुरंत कहो, तुरंत।

तीसरा—(घबड़ाये हुए) महाराज तो प्रसन्न हैं ? रानियाँ तो प्रसन्न हैं ? जिन अनुपमेय राम और सीता के दर्शन कर हम लोग नित्य कृतार्थ होते हैं, जो निशिदिन हमारे कल्याण की चिन्ता में मग्न और

हमारे हित के लिए भटकते रहते हैं, वे तो आनन्दपूर्वक हैं न ?

दूसरा—वीरवर लक्ष्मण तो कुशल से हैं ? पुण्यात्मा भरत और शत्रुघ्न के तो ननिहाल से कोई अशुभ समाचार नहीं आये ?

पहला—(लम्बी साँस ले) अब सब अशुभ ही अशुभ है। न जाने कितनी प्रतीक्षा के पश्चात् जो शुभ घड़ी आज दृष्टिगोचर होती, वही जब न होगी, तो फिर शुभ क्या है ?

दूसरा—(अत्यन्त घबड़ाकर) पर हुआ क्या ? तुम लम्बी साँसें ले रहे हो, पर बतलाते कुछ नहीं।

तीसरा—(घबड़ाहट के मारे जल्दी-जल्दी) मेरे प्राण मुंह को आ रहे हैं। तुरन्त कहो, बन्धु, तुरन्त, शीघ्रातिशीघ्र कहो।

पहला—(नेत्रों में आँसू भर) युवराज-पद के स्थान पर महाराज ने........। **(उसका गला भर आता है।)**

दूसरा—(टहलते हुए) हाँ, महाराज ने, क्या ? शीघ्र कहो, नहीं तो हम ही दौड़ते हुए ड्योढ़ी को जाते हैं।

पहला—(भर्राये हुए स्वर में) नहीं कहा जाता, बन्धु, नहीं कहा जाता। क्या कहूं ! हा ! सुनने के पूर्व ही प्राण क्यों न निकल गये।

[जिधर से एक पुरवासी आया था उसी ओर से दौड़ते हुए एक का और प्रवेश। इसकी वेश-भूषा भी पहले पुरवासियों की-सी है।]

पहला—(आगन्तुक से) क्यों पूछ आये ?

आगन्तुक—हाँ, सच है।

दूसरा—क्या, कुछ हमें भी तो बताओ ?

तीसरा—**(पहले की ओर संकेत कर)** ये भी नहीं बता रहे हैं।

आगन्तुक—क्या बताऊँ, अनर्थ हो गया; घोर अनर्थ। अवध की प्रजा के भाग्य फूट गये। राज्याभिषेक के स्थान पर महाराज ने राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया और भरत को राज्य !

दूसरा—क्या कहा ? राम को वनवास ! **(सिर पकड़कर बैठ जाता है।)**

तीसरा—और भरत को राज्य !

आगन्तुक—**(लम्बी साँस ले)** हाँ, बन्धु, यही। **(पहले की ओर संकेत कर)** जब इन्होंने मुझसे यह वृत्त कहा तब मैंने भी इस संवाद पर विश्वास न किया था, मैं स्वयं ड्योढ़ी पर गया और सुन आया कि यह सत्य है।

दूसरा—कारण क्या ? महाराज तो राम से अत्यन्त प्रसन्न थे।

पहला—महाराज का दोष नहीं है; भरत का षड्यन्त्र सफल हो गया।

आगन्तुक—नहीं, नहीं; भरत को क्यों दोष देते हो ? उनकी माता के अपराध के कारण उनको दोष देना अन्याय है।

तीसरा—अच्छा, तो कैकेयी महारानी दोषी हैं ?

पहला—कैकेयी का तो नाम है; मेरा तो विश्वास है कि सारी विष-बेलि भरत की बोयी हुई है।

दूसरा—अच्छा तो सारा वृत्त तो कहो कि क्या हुआ ?

आगन्तुक—सारे वृत्तान्त के कहने का तो मुझमें भी साहस

नहीं है और न अभी ज्ञात ही है। संक्षेप में यही हैं कि कैकेयी महा-रानी को महाराज ने कभी दो वर देने का वचन दिया था, रात्रि को जब महाराज शयनागार में गये तब महारानी ने राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राज्य देने के दो वर माँगे। महाराज अपने वचन-पालन में कितने अटल हैं, यह तो विख्यात् ही है; महाराज को अपना वचन पूर्ण करना पड़ा। राम अभी महाराज के निकट गये थे, उन्होंने वन जाने की प्रतिज्ञा की है और वे जाने को प्रस्तुत होने के लिए अपने........। **(इतना कहते-कहते उसका गला भर आता है, कुछ ठहरकर वह फिर कहता है)** पतिव्रता सीता देवी और भ्रातृ-भक्त लक्ष्मण भी उनके साथ जायँगे।

पहला—(आश्चर्य से) अच्छा! यह मुझे भी ज्ञात नहीं था। उन्हें भी वनवास दिया गया है?

आगन्तुक—नहीं, और राम ने बहुत चाहा कि वे संग न जावें, पर दोनों ने नहीं माना; अन्त में राम ने स्वीकृति दे दी। राम माता से भी आज्ञा ले आये हैं और लक्ष्मण भी।

दूसरा—आह! सीता देवी चौदह वर्ष महाकान्तार में!

तीसरा—महान् अनर्थ है! **(क्रोध से)** मैं भी मानता हूँ कि यह सब भरत, शत्रुघ्न और कैकेयी के षड्यन्त्र से हुआ है; वे दोनों ननिहाल चल दिये और माँ को आगे कर दिया।

दूसरा—यदि यह सत्य हुआ तो हमलोग विप्लव करेंगे।

आगन्तुक—बन्धु, उत्तेजना में मनुष्य सत्य बात का निर्णय कभी नहीं कर सकता। मुझे विश्वास है कि पुण्यात्मा भरत से यह

होना सम्भव नहीं है; फिर सच बात तो प्रकट होकर ही रहेगी; और हमारे लिए तो राम और भरत दोनों समान हैं, परन्तु........।

पहला—(क्रोध से) कभी नहीं, राम और भरत कभी समान नहीं हो सकते।

दूसरा—(और भी क्रोध से) असम्भव है।

तीसरा—(अत्यन्त क्रोध से) नितान्त।

आगन्तुक—पर इसके निर्णय का तो यह समय नहीं है। जब भरत सिंहासनासीन होने लगेंगे, उस समय प्रजा अपने कर्तव्य का निर्णय करेगी। मैं तो यह कह रहा था कि यदि कैकेयी भरत को राजा ही बनाना चाहती थीं, तो वे बनवातीं, पर राम को वनवास क्यों? राम का स्वभाव तो ऐसा है कि वे भरत को सहर्ष राज्य दे देते। प्रजा से राम का यह वियोग क्यों कराया जा रहा है?

पहला—(शोक से) हाँ, बन्धु, क्या वृद्ध, क्या युवा, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी सभी को राम एक-से प्रिय हैं।

तीसरा—(शोक से) इसमें कोई सन्देह नहीं। जहाँ वे जाते हैं, घड़ियों तक नर-नारियाँ उसी मार्ग को देखा करते हैं, उन्हीं की चर्चा होती है। कौन वैसी प्रजा-सेवा करेगा?

पहला—(आँसू भरकर) ओह! चौदह वर्ष उनके दर्शन न होंगे। महाराज, महारानी कौशल्या और सुमित्रा तथा उर्मिला देवी कैसे जीवित रहेंगी?

दूसरा—पर देखें, वे कैसे जाते हैं? सारे अयोध्या-निवासी उनके रथ को रोक लेंगे; घोड़ों को पकड़ लेंगे; रथ के चकों को नहीं छोड़ेंगे;

देखें, उनका रथ कैसे चलता है ?

तीसरा—हाँ, हाँ, वे यदि पैरों जाने का उद्योग करेंगे तो वह भी न करने देंगे; उनके सम्मुख लेट जायँगे। राम ऐसे निर्दयी नहीं हैं कि मनुष्यों को कुचल कर जावें।

पहला—चलो, चलो, सारे पुर में सूचना करें; सारे पुरवासी ड्योढ़ी को चलेंगे।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या में राजप्रासाद के बाहर का राज-मार्ग

समय—प्रातःकाल

[सामने दूर अनेक खण्डों का ऊँचा राजप्रासाद दिखता है। मार्ग के दोनों ओर अनेक खण्डों के भवन बने हैं। मार्ग जन-समुदाय से भरा है। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्रियाँ सभी दृष्टिगोचर होते हैं। पुरुष और बालक उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं। स्त्रियाँ और बालिकाएँ साड़ी पहने और वक्षस्थल पर वस्त्र बाँधे हैं। सभी आभूषण धारण किये हैं। किसी के आँसू बह रहे हैं, कोई इधर-उधर दौड़ रहा है। बड़ा हल्ला हो रहा है। कभी-कभी हल्ला कम होता है और तरह-तरह के शब्द सुनायी देते हैं।]

एक—राज्याभिषेक के स्थान पर वन-गमन हुआ।

दूसरा—दैवी माया सचमुच बड़ी अद्भुत है।

पहला—हा ! आज अवध का राज्य अनाथ हो जायगा ।

दूसरा—न जाने, राजा को क्या सूझा है ?

एक वृद्धा—फिर हमें उनके मुख न दिखेंगे, क्यों ?

[कुछ देर तक हल्ले में कुछ सुनायी नहीं देता, फिर कुछ शान्ति होती है ।]

एक—अब उनका जा सकना असम्भव है ।

दूसरा—यदि वे चाहें तो उनका रथ या उनके पैर अगणित प्रजा को रौंदकर अवश्य जा सकते हैं ।

तीसरा—यह भी सम्भव नहीं है, जहाँ तक वे जायेंगे, हम पीछा करेंगे ।

एक स्त्री—अरे, स्त्रियाँ तक दौड़ेंगी ।

एक बालक—और बालक भी ।

[राजप्रासाद के महाद्वार से एक रथ निकलता है । छतरीदार रथ है । रथ में चार घोड़े जुते हैं । सामने सारथी बैठा है जो श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है तथा सुवर्ण के आभूषण पहने है । रथ पर चमड़ा मढ़ा है और चमड़े पर सोना-चाँदी लगा है । रथ की छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वजा उड़ रही है । फिर हल्ला होता है । रथ पर भूषणों से रहित, वल्कल-वस्त्र पहने राम और लक्ष्मण बैठे हैं । सीता अपनी साधारण वेश-भूषा में बैठी हैं और महर्षि वसिष्ठ भी हैं । लक्ष्मण का स्वरूप राम से मिलता हुआ है, पर वे गौर वर्ण हैं । वसिष्ठ वृद्ध हैं, फिर भी केशों की श्वेतता के अतिरिक्त वृद्धावस्था का कोई प्रभाव

शरीर और मुख पर नहीं है। उनका शरीर गौर वर्ण का सुडौल है। सिर पर जटा बँधी है और लम्बी श्वेत दाढ़ी है। वस्त्र वल्कल के हैं। रथ को सारथी धीरे-धीरे आगे बढ़ाता है। कुछ देर पश्चात् सुन पड़ता है।]

वसिष्ठ—(राम से) इस अपार जन-समुदाय के बीच से कैसे निकल सकोगे, राम ?

राम—(लम्बी साँस ले) आपके प्रयत्न से, प्रभो। अपने पर प्रजा का यह अत्यधिक प्रेम देख, इनके वियोग से क्या मुझे दुःख न होगा ? परन्तु पूज्यपाद पिताजी की आज्ञा का तो अक्षरशः पालन करूँगा, भगवन्।

[जैसे ही रथ आगे बढ़ता है कुछ लोग कहते हैं।]

एक—अब रथ आगे नहीं बढ़ सकता।

दूसरा—असम्भव है।

तीसरा—सर्वथा असम्भव है।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात सुनायी देता है।]

एक—क्या आप इतने जन-समुदाय की इच्छा के विरुद्ध कार्य करेंगे, स्वामिन् ?

दूसरा—प्रजा-रंजन सूर्य-वंशियों का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा—धर्म है, धर्म।

[फिर भी रथ कुछ और आगे बढ़ता है। फिर हल्ला होता है। कई पुरवासी आगे बढ़, घोड़ों की रास और रथ के चक्के पकड़, रथ को रोक लेते हैं। एक अत्यन्त वृद्ध पुरवासी आगे बढ़ता है।]

वृद्ध—(नेत्रों में आँसू भर) कहाँ, कहाँ जाते हो, राम? इन वस्त्रों को पहनकर कहाँ जाते हो? सूर्य-वंशी राजाओं और सम्राटों को चौथेपन में मैंने ये वस्त्र पहने, वन जाते, रानियों को वन में संग ले जाते, देखा है, पर इस अवस्था में नहीं, राम, इस अवस्था में नहीं!

एक वृद्धा—(रोती हुई आगे बढ़ सीता से) पुत्री, तू कहाँ जायगी? तू वन को जायगी! वृद्ध सास-ससुर को, हम सबको छोड़ तू वन को जायगी! यह नहीं होगा, कभी नहीं होगा। हम अवध-निवासी वृद्धाओं के प्राण रहते नहीं होगा।

[फिर हल्ला होता है, थोड़ी देर कुछ सुनायी नहीं देता, फिर सुन पड़ता है।]

एक ब्राह्मण—(आगे बढ़ वसिष्ठ से) भगवन्, यह कहाँ की नीति है? कहाँ का धर्म है? आपके कुल-गुरु होते हुए यह अनीति, यह अधर्म!

एक युवक—(आगे बढ़) और प्रजा की इस आज्ञा के सम्मुख अकेले महाराज दशरथ की आज्ञा कौन-सी वस्तु है? **(वसिष्ठ से)** प्रभो, इस सूर्य-वंश के राजाओं ने, जो प्रजा को प्रिय रहा है, वही किया है। महाराज दशरथ हमारे नरेश हैं, पूज्य हैं; परन्तु उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे हमारी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार का कार्य करें।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् फिर सुनायी देता है।]

एक स्त्री—पिता और ससुर के घर में जिस वैदेही के पैर कोमलतम बिछावन पर ही पड़ते थे, वह वन की पथरीली, कँकरीली और

कटीली भूमि में भटकेगी !

दूसरी स्त्री—वन की ठंड, लू और वर्षा सहन करेगी !

तीसरी स्त्री—सीता देवी के कष्टों की ओर ही देखकर न जाओ, युवराज !

एक बालक—(आगे बढ़ सीता से) मैं तो राजभवन में बहुत आता था, आप तो मेरे साथी बालकों को और मुझे विविध प्रकार के मिष्ठान्न देती थीं, क्या हम बालकों को छोड़कर आप चली जायँगी ? आप ही **(राम की ओर संकेत कर)** इन्हें रोकिए, देवि ।

एक युवक—(आगे बढ़ लक्ष्मण से) वीरवर, आपके अग्रज ने आपका कहना कभी नहीं टाला । आप ही हम लोगों की ओर से इन्हें समझाइए ।

दूसरा युवक—(लक्ष्मण से) पिता की आज्ञा मानना यदि धर्म मान लिया जाय तो एक ओर पिता की आज्ञा है और दूसरी ओर इस अपार जन-समुदाय का सन्तोष ।

एक वृद्ध—नहीं, नहीं, इस जन-समुदाय की प्राण-रक्षा । अवध में बिना तुम लोगों के दर्शन के कोई जीवित न बचेगा ।

[फिर हल्ला होता है । कुछ देर पश्चात् सुनायी देता है ।]

राम—(दुःखित हो वसिष्ठ से) भगवन्, सचमुच यह तो बड़ी कठिन समस्या है; आप ही इससे उद्धार कीजिए । इस अपार जन-समुदाय का यह करुण-क्रन्दन तो असह्य है ।

[वसिष्ठ बोलने के लिए रथ पर खड़े होते हैं । उन्हें खड़े देख प्रजा चुप हो जाती है ।]

वसिष्ठ—पुरवासी नर-नारियो! राम के प्रति तुम्हारा यह अगाध प्रेम केवल सराहनीय न होकर अभूतपूर्व है; परन्तु, बन्धुओ! यदि प्रेम मोह में परिणत हो जावे तो वह दुःखप्रद हो जाता है। राम के प्रति तुम्हारा प्रेम सराहनीय है, पर मोह सराहनीय नहीं। यदि मोह के वशीभूत होकर तुम कर्तव्य-च्युत हो जाओ, या तुम्हारे कारण राम को कर्तव्य-च्युत होना पड़े, तो वह न तुम्हारे लिए सराहनीय बात होगी और न राम के। पिता की आज्ञा मानना राम का धर्म है।

एक व्यक्ति—पर यह आज्ञा अनुचित है।

बहुत से व्यक्ति—नितान्त अनुचित।

वसिष्ठ—क्या अनुचित और क्या उचित है, इसकी मीमांसा, इस वृहत् जन-समुदाय में, ऐसे समय होना जब कि किसी की भी बुद्धि ठिकाने नहीं है, सम्भव नहीं। विषय क्या है, इसे थोड़ा सोचो। महाराज दशरथ ने महारानी कैकेयी को दो वर देने का वचन दिया; वे अपने वचन से बद्ध हैं। महाराज के वचन की सिद्धि राम की कृति पर अवलम्बित है, और राम का पुत्र के नाते कर्तव्य है कि वे अपने पिता के वचन को सत्य कर दें। यह तुम्हारे सहयोग पर निर्भर है, अतः इस समय राम का वन जाना और तुम्हारा इनके मार्ग में आड़े न आना ही धर्म है। **(वसिष्ठ बैठ जाते हैं।)**

एक युवक—**(आगे बढ़ ज़ोर से)** यदि यह मान भी लिया जाय कि इस समय राम का धर्म वन जाना है, तो लक्ष्मण और सीता का तो नहीं है?

दूसरा युवक—कदापि नहीं।

पहला युवक—वे तो राम के संग जा रहे हैं।

तीसरा युवक—साथी की दृष्टि से ?

पहला—हाँ, साथी की दृष्टि से। तो बस हम सब भी बन जायँगे। अवध के निवासी वहीं बसेंगे, जहाँ राम होंगे।

कुछ व्यक्ति—बस, यही ठीक है। राम अपने धर्म का पालन करें और हम अपने धर्म का।

[फिर हल्ला होता है।]

पहला युवक—(आगे बढ़ ज़ोर से) अच्छा, बन्धुओ! घोड़ों को छोड़ दो; रथ चले, हम सब पीछे-पीछे चलेंगे।

[लोग घोड़ों और रथ को छोड़ देते हैं। रथ धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। जन-समुदाय कोलाहल करता हुआ पीछे-पीछे चलता है। राम, सीता, लक्ष्मण और वसिष्ठ दुःखित दृष्टि से सबकी ओर देखते हैं।]

यवनिका

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—पंचवटी

समय—सन्ध्या

[गोदावरी के किनारे राम की पर्णकुटी है। गोदावरी का निर्मल नीर डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों में चमक रहा है। चारों ओर सघन वन दृष्टिगोचर होता है। वृक्षों के ऊपरी भाग भी सूर्य की किरणों से पीले हो रहे हैं। अनेक प्रकार के पुष्पों के वृक्ष कुटी के चारों ओर लगे हैं। कुटी के बाहर, चट्टानों पर मृगचर्मों को बिछा, राम, लक्ष्मण और सीता बैठे हुए हैं। राम और लक्ष्मण की जटाएँ बहुत बढ़ गयी हैं, जिनका मुकुट के सदृश जूड़ा सामने बँधा है। दोनों के वस्त्र वल्कल के हैं और सीता के नील रेशमी। सीता आभूषण भी धारण किये हैं। राम और लक्ष्मण के निकट ही उनके धनुष रखे हैं, तथा बाणों के तरकस। इनके निकट ही, हाथ में पहनने के, गोह के चमड़े के बने हुए, गोधांगुलिस्त्राण भी रखे हैं। बीच में एक छोटा-सा लता-मंडप है। मंडप के चारों ओर पत्रों तथा पुष्पों का बन्दनवार बँधा है। मंडप के बीच अग्निहोत्र की वेदी में से थोड़ा-थोड़ा

धूम उठ रहा है। आश्रम के चारों ओर वृक्षों पर तोते आदि पक्षी दिखायी देते हैं। एक पालतू मृगी सीता के पास बैठी है, जिसका सिर सीता सुहला रही हैं। तीनों सन्ध्या की प्रार्थना में गायन गा रहे हैं।]

रविभा विशते सतां क्रियायै।
सुधया तर्पयते पितृन्सुरांश्च॥
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे।
हरचूड़ानिहितात्मने नमस्ते॥

राम—(गायन पूर्ण होने पर) सन्ध्या की प्रार्थना के संग ही आज वनवास की तेरहवीं वर्षगाँठ का उत्सव भी समाप्त होता है, वैदेही, अब कहो, इस उत्सव के उपलक्ष में तुम्हें क्या भेंट दी जाय ?

सीता—नाथ, इस तेरह वर्षों के आपके संग और इन वनों के नित-नये विहारों की स्मृति क्या छोटी भेंट है ? फिर भेंट तो आपके चरणों में आज मुझे अर्पित करनी चाहिए।

राम—तुम तो मुझे सभी भेंट कर चुकी हो, प्रिये। क्या और कुछ भेंट करने को शेष है ? अयोध्या के राजप्रासाद में तुम आनन्द-पूर्वक निवास कर सकती थीं, या अपने पिता के राजभवन को जा सकती थीं, दोनों ही स्थानों पर सभी प्रकार के आहार-विहार थे, परन्तु कहाँ ? तुम तो तेरह वर्षों से, प्रति वर्ष कपकपानेवाली शीत, झुलसानेवाली लू और पचासों जगह टपकनेवाली पर्णकुटी में वृष्टि को सहन कर रही हो। चार पग भी चलने से जो पैर दुखने लगते थे वे पथरीली और काँटोंवाली भूमि में योजनों चल

चुके हैं। वन की पवन से सारा शरीर रूखा हो गया है और मुख क्या वैसा है, जैसा अयोध्या छोड़ने के पूर्व था ? क्या कहूँ ?

सीता—परन्तु आपके बिना अयोध्या अथवा मिथिला के वे राज्य-वैभव मुझे क्या सुख देते, आर्यपुत्र ? मैं सत्य कहती हूँ, इन तेरह वर्षों का, वन का, यह सुख मैं जीवन-भर न भूलूँगी।

राम—**(लक्ष्मण से)** लक्ष्मण, वधू उर्मिला क्या सोचती होगी ? तुम तो हठ कर मेरे संग आ ही गये, पर वह मुझे अवश्य शाप देती होगी। वधू उर्मिला और पूजनीया सुमित्रा का जब स्मरण आता है तब मैं उद्विग्न हो उठता हूँ।

लक्ष्मण—मुझे विश्वास है, तात, आपके संग मेरे आने से उन्हें दुःख नहीं, आनन्द, असीम आनन्द होगा।)

राम—**(लम्बी साँस ले)** इन तेरह वर्षों के पूर्व का, आज का दिवस फिर दृष्टि के सम्मुख घूम रहा है। पिताजी की वह आतुरता, प्रजा का वह करुण-क्रन्दन ! आह ! यदि दूसरे दिन रात्रि को ही सबके सोते हुए हम लोगों ने रथ न चला दिया होता तो क्या लोग अयोध्या लौटते ? न जाने क्या होता ? उसके पश्चात् भी क्या न हुआ। मेरे वियोग में पिताजी का स्वर्गारोहण, भरत का नन्दीग्राम में तप करना। कुछ ही दिन हुए, सुना था कि तेरह वर्ष बीत जाने पर भी अब तक अवध में कोई उत्साहपूर्ण कार्य नहीं होता; न जन्म में उत्सव होता है, न विवाह में। एक मनुष्य के लिए अनेकानेक का यह क्लेश !

लक्ष्मण—पर किस एक मनुष्य के लिए, आर्य ? उसके लिए

जिसने बिना उत्तरदायित्व के ही प्रजा की सेवा में अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया था; उसके लिए जिसने अपने कर्तव्य के सम्मुख राज-पाट, धन-वैभव, आनन्द-विहार सबको तुच्छ माना; सबको ठुकरा दिया। प्रजा के आप प्राण हैं, तात, प्रजा आपके बिना निर्जीव है।

सीता—मुझे तो जब आपने चित्रकूट से भरत आदि कुटुम्बी-जनों एवं प्रजा को लौटाया था, उस समय की उनकी मुख-मुद्रा विस्मृत नहीं होती। जान पड़ता था, मानो हमने उनका सर्वस्व हरण कर उन्हें लौटाया हो।

लक्ष्मण—और, आर्य, मुझे वह दृश्य अब तक खटक रहा है जब आपने पूजनीया कौशल्या के भी पूर्व कैकेयी के चरणों का स्पर्श किया था।

राम—लक्ष्मण, अनेक बार तुम इस बात को कह चुके हो और मैं तुम्हें समझा भी चुका, पर पूजनीया कैकेयी के प्रति क्रोध तुम्हारे हृदय से नहीं जा रहा है। क्या कहूँ? वत्स, जो-कुछ उन्होंने किया उसमें उनका दोष नहीं था। दैवी प्रेरणाओं से अनेक बार मनुष्य कुछ-का कुछ कर डालते हैं। देखा नहीं, उन्हें कितना पश्चात्ताप था?

लक्ष्मण—एक वर्ष और शेष है, तात! एक वर्ष में सबके पश्चात्ताप और दुःख दूर हो जायंगे।

राम—परन्तु न जाने, लक्ष्मण, बार-बार क्यों मेरे हृदय में उठता है कि अभी और अनर्थ होना है। जब अभिषेक को एक पहर ही था तब चौदह वर्ष के लिए वन को आना पड़ा, अब वनवास को एक वर्ष शेष है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है इस एक अंक में कुछ-न-कुछ

विशेषता अवश्य है। मुझे बार-बार भासता है कि यह एक वर्ष उस प्रकार न बीतेगा जैसे ये तेरह वर्ष व्यतीत हुए हैं।

[दूर सुनहरे चर्म का एक मृग दिखता है।]

सीता—(मृग देख) नाथ, आप पूछते थे कि वनवास की तेरहवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में मुझे आप क्या देवें? यह लीजिए, दण्डकारण्य के इस विचित्र मृग को देखिए। इसका चर्म मुझे ला दीजिए। आर्यपुत्र, इसके चर्म पर विराजमान आपके दर्शन कर मुझे विशेष आनन्द होगा।

राम—(मृग को देख, गोधांगुलित्राण हाथ में पहन, धनुष उठाते और तरकस बाँधते हुए) हाँ, प्रिये, मृग अवश्य अद्‌भुत है। मैं अभी इसे मार लाता हूँ। **(लक्ष्मण से)** लक्ष्मण, जब से शूर्पनखा के नाक-कान काटे गये हैं और जन-स्थान के खर, दूषण आदि का वध हुआ है तब से राक्षस चारों ओर बहुत घूम रहे हैं, यहाँ से न हटना और सावधान रहना।

[राम का प्रस्थान। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। अँधेरा होने लगता है।]

सीता—(चारों ओर देख) अँधेरा हो चला है; मैंने अच्छा नहीं किया जो आर्यपुत्र को इस समय उस मृग के पीछे भेजा।

लक्ष्मण—आप चिन्तित न हों, अंब! तात के लिए मैं कहीं और किसी परिस्थिति में भी भय का कोई कारण नहीं देखता।

[कुछ देर निस्तब्धता रहती है। और अँधेरा हो जाता है।]

सीता—बहुत देर हो गयी, वे अब तक नहीं लौटे।

लक्ष्मण—आते ही होंगे, आप तनिक भी चिन्ता न करें।

[फिर कुछ देर निस्तब्धता रहती है। कुछ देर पश्चात् नेपथ्य में शब्द होते हैं—'लक्ष्मण! हा! लक्ष्मण!' 'लक्ष्मण! मैं मरा, दौड़ो!' 'मुझे बचाओ, बचाओ!']

सीता—(घबड़ाकर) यह कैसा शब्द! यह कैसा शब्द, लक्ष्मण?

लक्ष्मण—(प्रथम चौंक, फिर शान्त हो) कोई राक्षसी माया है। आर्ये, तात के लिए कोई भय सम्भव नहीं।

सीता—(बहुत ही घबड़ाकर खड़ी हो) नहीं, नहीं, लक्ष्मण, तुम जाओ, तत्काल जाओ। वह आर्यपुत्र का, ठीक उन्हीं का स्वर था। उन पर कोई भारी आपत्ति है।

लक्ष्मण—मैं कहता हूँ उन पर ऐसी आपत्ति आना असम्भव है। देवि, मैं आपको अकेला छोड़कर कैसे जा सकता हूँ? स्मरण नहीं है, वे जाते समय मुझे क्या कह गये थे?

सीता—(उत्तेजित हो) मैं आज्ञा देती हूँ तुम जाओ, तत्काल जाओ। एक पल का विलम्ब न करो, एक पल का भी नहीं।

लक्ष्मण—किन्तु........।

सीता—(अत्यन्त उत्तेजित तथा क्रोधित हो) गुरुजनों की आज्ञा में 'किन्तु,' 'परन्तु' की क्या आवश्यकता है? क्या तुम्हारे अग्रज से भी तुम्हें मेरे प्राण अधिक महत्त्व के जान पड़ते हैं? मैं अन्तिम बार तुम्हें आज्ञा देती हूँ कि तुम जाओ, तत्काल जाओ, नहीं तो मैं जाऊँगी।

लक्ष्मण—(खड़े हो एक दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए) आपकी

आज्ञा शिरोधार्य कर मैं जाता हूँ, पर आप कुटी के बाहर पैर न रखें।

सीता—हाँ, हाँ, मैं कुटी के बाहर न जाऊँगी, तुम तो जाओ, तत्काल जाओ। ओह! तुमने बहुत विलम्ब कर दिया!

[लक्ष्मण का प्रस्थान। सीता घबड़ाहट से इधर-उधर टहलती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वन का मार्ग

समय—सन्ध्या

[एक ओर से राम और दूसरी ओर से लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—(लक्ष्मण को देखकर आश्चर्य से) हैं! तुम वैदेही को अकेला छोड़कर!

लक्ष्मण—(सिर नीचा किये) क्या करूँ, आर्य, कई बार मुझे पुकारा गया, आपका-सा स्वर था, फिर भी मुझे सन्देह नहीं हुआ, पर सीता देवी की ऐसी आज्ञा हुई कि मुझे आपको ढूँढ़ने आना ही पड़ा।

राम—आह! मैं सब समझ गया वह मृग नहीं था, राक्षस था। मृग-रूप से आया और मरते समय उसने मेरा-सा स्वर बना तुम्हें पुकारा। जब उसने तुम्हें पुकारा था तभी से मेरे हृदय में शंका हो गयी थी कि मैथिली तुम्हें भेजे बिना न रहेगी; वही हुआ। वैदेही की कुशलता नहीं है। (लम्बी साँस ले) चलो शीघ्र कुटी चलें। मैंने कहा ही था कि मेरे हृदय में शंकाएं उठती हैं।

[दोनों का शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—राम की कुटी

समय—सन्ध्या

[कुटी सूनी पड़ी है। सन्ध्या का बहुत थोड़ा प्रकाश रह गया है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—(सूनी कुटी देख, इधर-उधर घूमकर, ज़ोर से) जानकी! वैदेही! मैथिली! (कोई उत्तर न पाकर लक्ष्मण से) देखा, लक्ष्मण, देखा, वैदेही नहीं हैं।

लक्ष्मण—(सिर नीचा किये हुए दुःखित स्वर से) हाँ, तात, यह मेरे दोष से हुआ।

राम—(लक्ष्मण को दुखी देख) नहीं, नहीं, लक्ष्मण, तुम ऐसा क्यों समझ रहे हो? मैं तुम्हें दोष नहीं दे रहा हूँ, यह सब मेरे भाग्य का दोष है।

लक्ष्मण—पर आप धैर्य रखें, आर्य, हम उनकी खोज करेंगे। वे मिलेंगी, अवश्य मिलेंगी; मेरा हृदय कहता है मिलेंगी; अन्तरात्मा कहती है मिलेंगी। यह भी कोई राक्षसी माया है।

राम—हां, खोज अवश्य करेंगे, लक्ष्मण, पर यदि कोई वन-पशु ही उसे खा गया होगा, अथवा राक्षस हर ले गया हो तो? वह जीवित होगी तभी तो मिलेंगी न? यदि कोई राक्षस उसे ले गया होगा तो मेरे बिना वह प्राण कब तक रखेगी? यदि उसका पता लग जाय तब तो, उसे ले जानेवाला चाहे कितना ही पराक्रमी क्यों न हो, मैं पलों में उसे परास्त कर सकता हूँ। पापी को शक्ति ही कितनी रहती

है ? पर पता लगे तब तो; फिर पता लगने तक वह जीवित रहे तब न !

लक्ष्मण—पता भी लगेगा, तात, और वैदेही हमें मिलेंगी भी, जीवित मिलेंगी। मुझे ऐसा भासता है मानो मेरे कान में चुपचाप कोई यही कह रहा है।

राम—तुम्हारा ही अनुमान सत्य हो। पर, इस घोर वन में, जहां दिन को ही किसी का पता लगना कठिन है वहां, रात्रि के अन्धकार में तो हाथ को हाथ न सूझेगा; और यदि किसी ने उसको हरा है तो प्रातःकाल तक तो वह न जाने कितनी दूर तक जा चुकेगा।

लक्ष्मण—अभी चन्द्रोदय होगा, आर्य, हम चन्द्र का प्रकाश होते ही उन्हें ढूँढ़ने चलेंगे।

राम—**(कुछ ठहर)** लक्ष्मण, जानकी कहीं छिपकर हमसे हँसी तो नहीं कर रही है ? **(जोर से)** मैथिली ! मैथिली ! वैदेही ! वैदेही !

[कोई उत्तर नहीं मिलता।]

लक्ष्मण—नहीं, तात, यह नहीं हो सकता। यदि उन्होंने हँसी की होती तो क्या आपका यह करुण स्वर सुनकर भी वे चुपचाप छिपी रह सकती थीं।

राम—हां, वत्स, ठीक कहते हो। मेरा इतना दुःख देखना तो दूर रहा, वह पलमात्र भी मुझे उदास नहीं देख सकती थी। यदि कभी मैं पिता, माता, भरत अथवा अयोध्या-निवासियों का स्मरण कर थोड़ा भी खिन्न होता तो वह अपनी कोकिल-कण्ठी वाणी द्वारा मेरा

हृदय उस ओर से हटाने का उद्योग करती थी। कभी मैं उसके इस कौशल को समझ जाता और हँस देता तो लज्जा से वह सिर झुका लेती; उसके उस समय के, ज्योत्स्ना पड़ते हुए कमल के सदृश अवनत, मुख का मुझे इस समय जितना स्मरण आ रहा है उतना कभी नहीं आया, लक्ष्मण। मैंने तो उसे विदेह महाराज तक का स्मरण करते नहीं देखा। मैं यदि उसे उनका स्मरण दिलवाता तो वह इस भय से, कि कहीं उसके मुख पर कोई खिन्नता न दिख जावे और उससे मुझे क्लेश न पहुँचे, उस बात को ही टाल देती; उस समय के, सरला मृगी के-से उसके नेत्र मुझे इस समय जितने स्मरण आते हैं उतने कभी भी नहीं आये, वत्स। मुझे वन में कभी कष्ट न पहुँचे इसकी उसे कितनी चिन्ता थी? मेरे नित्यकर्मों की व्यवस्था के लिए वह उषःकाल में उठती और पहर रात गये सोती थी। मेरे भोजन का उसे कितना ध्यान रहता था। मैं ही उसके लिए सर्वस्व था। उसके प्रेम, उसके वात्सल्य, उसके सुख, उसके आनन्द का मैं ही आश्रय था। तुम ठीक कहते हो, क्या वह मुझे कभी दुखी देख सकती है? तभी कहता हूं, लक्ष्मण, वह मेरे बिना कैसे जीवित रहेगी।

लक्ष्मण—मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तात। जब तक कोई दुःख नहीं पड़ता, मनुष्य सोचता है, वह कैसे सहन होगा; पर जब सहने का समय आता है तब उसे सह सकने की शक्ति मिल जाती है। आपके दर्शन की आशा पर ही वे सब कुछ सहन कर लेंगी।

राम—हां, ठीक कहते हो, वत्स, मैं ही उससे कहता था कि यदि मैं अकेला वन को आ जाता तो उसका वियोग मैं कदाचित् ही सहन कर सकता। पर देखो, आज वह कहां है, यह भी ज्ञात न होने पर मैं प्राण धारण किये हूँ। (**चन्द्रोदय होता हुआ देख**) यह लो, यह लो, लक्ष्मण, चन्द्रोदय हो रहा है। (**कुटी को देख**) देखो तो वत्स, यह कुटी कैसी शून्य दीखती है। इस पर छाये हुए पत्रों को तो देखो। इन्हें, तुमने और जानकी ने मिलकर, छाया था। (**चाँदनी में चमकते हुए उनके किनारों को देख**) वैदेही के वियोग से उनके नेत्रों में आंसू भर आये हैं। (**आंगन के पाटल के पुष्पों और लतामंडप की चमेली पर सिंचन के समय पड़े जल-बिन्दुओं को चाँदनी में चमकते देख**) देखो, देखो, लक्ष्मण, इन पुष्पों के नेत्रों में भी आंसू आ गये हैं। (**गोदावरी को देख**) यह देखो, अपनी लहरों द्वारा गोदावरी किस प्रकार रुदन कर रही है; यह जानती है कि अब उषःकाल में मैथिली इसमें स्नान न करेगी। (**कुछ ठहरकर**) उसके कोई पालतू पक्षी भी नहीं बोलते, सब शोक से मौन हो गये हैं। कहां है उसकी परिपालित हरिणी? जानकी मेरे लिए इस समय ग्रहणकाल में सूर्य और चन्द्र की गयी हुई द्युति, सूखे नद का नीर और सर्प की खोयी हुई मणि के समान हो गयी है। क्यों, वत्स, कभी मिलेगी या नहीं? सूर्योदय होते ही पद्म का दुःख दूर हो जायगा, क्योंकि उसे रवि की किरण मिल जायगी, कोक का क्लेश चला जायगा, क्योंकि उसे कोकी मिल जायगी। देखना है, मेरे कष्ट का क्या होता है? आह! अब नहीं, लक्ष्मण, अब नहीं, यहां अब एक क्षण भी

रहना असम्भव है।

लक्ष्मण—हाँ, आर्य, चलिए; हम उन्हें ढूंढ़ेंगे। मुझे विश्वास है कि वे मिलेंगी, अवश्य मिलेंगी।

[दोनों का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—किष्किन्धा का एक मार्ग,

समय—सन्ध्या

[एक-एक खण्ड के साधारण गृह हैं। सकरा-सा मार्ग है। दोनों ओर से दो वानरों का प्रवेश। इनका सारा शरीर मनुष्यों के सदृश है, मुंह कुछ बन्दर से मिलता है। सिर और आंखों के बीच में बहुत थोड़ा अन्तर है, अर्थात् सकरा ललाट है। आंखें गोल और नाक चपटी है। गालों की हड्डियां उठी हुई और जबड़े की हड्डियां चौड़ी हैं। रंग कुछ लाल है। कपड़े उस समय के मनुष्यों के सदृश, अर्थात अधोवस्त्र और उत्तरीय, धारण किये हैं।]

एक वानर—कहो, बन्धु, सुना ? आज मृग सिंह से, मूषक बिलाव से, सर्प मयूर से और मत्स्य ग्राह से युद्ध करने आ रहे हैं।

दूसरा वानर—यही न कि सुग्रीव बालि से युद्ध करने आ रहे हैं ?

पहला—हाँ, पर, क्या यह युद्ध जैसा मैंने कहा वैसा ही नहीं है !

दूसरा—वैसा तो नहीं कहा जा सकता, पर हाँ, गज सिंह से,

बिलाव श्वान से, सर्प नकुल से युद्ध करने जा रहे हैं, यह कह सकते हो; ग्राह से इस प्रकार का युद्ध किससे हो सकता है, सो मुझे नहीं सूझता ।

पहला—ऐसा सही । पर गज को सिंह, बिलाव को श्वान और सर्प को नकुल भी सदा पछाड़ ही देते हैं ।

दूसरा—ठीक; पर यदि गज की पीठ पर व्याध हो, या ऐसे ही दूसरे जीव सिखाये हुए हों, तो विपरीत फल भी हो जाता है ।

पहला—तो क्या कोई ऐसी बात है ?

दूसरा—अवश्य। नहीं तो तुम समझते हो कि सुग्रीव बालि को इस प्रकार युद्ध के लिए ललकार सकते थे ?

पहला—(**उत्सुकता से**) क्या, बन्धु, वह क्या है ? मुझे ज्ञात नहीं ।

दूसरा—(**कुछ धीरे से**) देखो, अपने तक ही रखना ।

पहला—मैं किसीसे क्यों कहने लगा ? मैं तो चाहता ही हूँ कि क्रूर बालि के राज्य का जितने शीघ्र अन्त हो, उतना ही अच्छा है ।

दूसरा—(**और धीरे**) सुग्रीव की एक बड़े पराक्रमी मनुष्य से मित्रता हुई है ।

पहला—किस से ?

दूसरा—उत्तर में अवध एक राज्य है । वहाँ के राजकुमार राम को उनके पिता ने चौदह वर्ष का वनवास दिया है ।

पहला—(**जल्दी से**) यह तो मैं जानता हूँ, पर उनसे सुग्रीव का सम्बन्ध कैसे हुआ ?

दूसरा—वही तो कहता हूँ, सुनो न। वे अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ पंचवटी में रहते थे। वहाँ से उनकी पत्नी को कोई हर ले गया। वे उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ऋष्यमूक पर्वत के नीचे पहुँचे। वहाँ सुग्रीव ने उन्हें देखा और हनुमान को भेज अपने निकट बुलवाया। सुग्रीव ने सीता के खोजने, और यदि उनका पता लग गया तो जिसने उनका हरण किया है उससे अपनी वानर और भालू-सेना सहित युद्ध कर राम को पुनः प्राप्त करा देने, का वचन दिया है और राम ने सुग्रीव को बालि का बध कर उसके कष्ट-निवारण का।

पहला—यह सब तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ ?

दूसरा--मैं उस दिन ऋष्यमूक को गया था।

पहला--पर बालि से तो सुग्रीव युद्ध करेंगे, रामचन्द्र उन्हें युद्ध में कैसे सहायता करेंगे ?

दूसरा—यह भी बताता हूँ, जब सुग्रीव बालि से युद्ध करेंगे तब राम छिपे हुए बैठे रहेंगे और बालि को एक ही बाण में समाप्त कर देंगे। वे बड़े पराक्रमी हैं, उन्होंने एक ही बाण से सात ताल वृक्षों को एक साथ वेध दिया था।

पहला—पर यह तो अधर्म होगा; राम तो बड़े धर्मात्मा सुने गये हैं।

दूसरा--क्या किया जाय, कोई उपाय नहीं है। सुग्रीव ने जब उन्हें बालि के अत्याचारों का वर्णन सुनाया और वतलाया कि उसकी पत्नी को बालि ने किस प्रकार हरा है, उसकी सम्पत्ति को लेकर उसे

राज्य से किस प्रकार निकाल दिया है, वह किस प्रकार मारे-मारे घूमने के पश्चात् अन्त में इस पर्वत पर, यह देख कि बालि शाप के कारण वहां नहीं आ सकता, किस प्रकार कष्ट से अपने दिन व्यतीत कर रहा है, तब राम ने बालि को मारने की प्रतिज्ञा कर ली। उसके पश्चात् उन्हें विदित हुआ कि बालि को वर प्राप्त है कि जो उसके सम्मुख युद्ध करने जाता है उसका आधा बल बालि को मिल जाता है। तथापि अब तो बालि को किसी प्रकार मारना ही होगा। **(कुछ रुककर)** फिर राम को यह भी ज्ञात हुआ है कि बालि अपनी प्रजा पर भी बड़ी क्रूरता से राज्य करता है।

पहला—तो अब बालि गया, पर सुग्रीव अपनी स्वाभाविक अत्यधिक दयालुता के कारण राज-काज चला सकेंगे?

दूसरा—आदर्श राज्य तो तभी था जब इन दोनों भ्राताओं में परस्पर स्नेह था; एक की वीरता और दूसरे की दया से प्रजा महान् सुख भोग रही थी, पर वह तो बालि ने ही निर्दोष सुग्रीव को कष्ट दे-देकर असम्भव कर दिया।

पहला—**(कुछ ठहरकर)** तुम कहाँ जा रहे थे?

दूसरा—उसी युद्ध को देखने।

पहला—मैं भी वहीं जा रहा था।

दूसरा—तो चलो, चलें।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पांचवां दृश्य

स्थान—एक वन

समय—सन्ध्या

[घना जंगल है, जो डूबते हुए सूर्य की किरणों से रँग रहा है। एक वृक्ष की ओट में खड़े हुए राम और लक्ष्मण दूर कुछ देख रहे हैं। राम के धनुष पर बाण चढ़ा हुआ है।]

राम—वह देखो, वह देखो, लक्ष्मण, इस समय सुग्रीव बड़ी वीरता दिखा रहे हैं। उनके मल्ल-युद्ध के प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण कौशल देखने ही योग्य हैं।

लक्ष्मण—यह प्रथम उत्साह की वीरता है, तात, वे कहीं बालि के सामने ठहर सकते हैं।

[कुछ देर दोनों चुप रहते हैं।]

राम—हाँ, हाँ, ठीक कहते हो, यह देखो उन्हें बालि ने पटक दिया। अब मेरा बाण ही उनकी रक्षा कर सकता है, अन्य कुछ नहीं।

लक्ष्मण—तो चलाइए बाण, आर्य, विलंब क्यों?

राम—पर, लक्ष्मण, ताड़का को मारते समय जैसे भाव उठे थे आज फिर वैसे ही मेरे हृदय में उठ रहे हैं। वह स्त्री-हत्या थी, यह युद्ध में अधर्म है।

लक्ष्मण—पर इससे बड़े अधर्मों का नाश करना और मित्र के प्रति मित्र के कर्त्तव्य की पूर्ति है।

राम—(बाण सँभाल, पर फिर हाथ ढीलाकर) नहीं, नहीं, लक्ष्मण, इस प्रकार छिपकर मुझसे कोई न मारा जायगा। बिना

यह अधर्म किये यदि जानकी की खोज नहीं हो सकती, यदि उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, तो न हो, पर युद्ध में यह अधर्म करना मेरे लिए सम्भव नहीं है ।

लक्ष्मण—(जल्दी से) इस समय यह सोचने का समय नहीं है, तात, और न सीता देवी की खोज एवं उनकी प्राप्ति का ही प्रश्न है; अब यह प्रश्न है जिसे आपने मित्र बनाया है, उसकी प्राण-रक्षा का । शीघ्रता कीजिए, शीघ्रता कीजिए, नहीं तो वह बालि सुग्रीव के प्राण ही ले लेगा । यह मित्र के प्रति विश्वासघात होगा; धर्मात्मा के प्राण अधर्मी के लिए जायँगे; रघुवंशियों से ऐसा विश्वासघात कभी नहीं हुआ ।

राम—(घबड़ाकर) पर यह तो एक ओर कूप और दूसरी ओर खाई है, वत्स । जिस समय यह प्रतिज्ञा हुई थी उस समय ये भाव इतने उत्कट रूप से मेरे हृदय में नहीं उठे थे ।

लक्ष्मण—(बहुत जल्दी) पर आपके इस विचार ही विचार में उसके प्राण जा रहे हैं, आर्य । आपने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की है; प्रतिज्ञा की है । चलाइए, चलाइए बाण, तात, नहीं तो मुझे ही आज्ञा दीजिए मैं ही बालि का वध कर दूँ । **(धनुष पर बाण चढ़ाते हैं ।)**

राम—नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है कि मैं अपना कर्तव्य न कर पाप तुम पर डालूँ । **(कुछ ठहरकर, उस ओर देखते हुए)** सचमुच ही अब तो उसके प्राण कण्ठगत ही हैं । अच्छी बात है, लक्ष्मण, यही हो, अपने कर्तव्य की ओर इतना लक्ष्य रखते हुए भी

यदि राम के हाथ से पाप ही होना है तो वही हो, लक्ष्मण, वही हो। (बाण छोड़ते हैं।)

यवनिका

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—लंका में अशोक-वाटिका

समय—सन्ध्या

[सुन्दर वाटिका है। अशोक के वृक्ष अधिक दिखायी देते हैं। वाटिका के बाहर, दूर लंका के अनेक खण्डों के विशाल भवनों के ऊपरी खण्ड दिखायी देते हैं। भवन पीत रंग के होने के कारण सुवर्ण के-से दिखते हैं। डूबते हुए सूर्य के पीले प्रकाश से इनकी दीप्ति और बढ़ गयी है। एक अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वी पर शोक से ग्रसित सीता बैठी हैं। चूड़ियों को छोड़ और कोई भूषण सीता के शरीर पर नहीं है। शरीर क्षीण और मलीन हो गया है। सीता धीरे-धीरे गा रही हैं।]

कबहूँ हा! राघव आवहिंगे?
मेरे नयन-चकोर-प्रीतिबस
राका-ससि मुखदिखरावहिंगे॥
मधुप मराल मोर चातक ह्वै
लोचन बहु प्रकार धावहिंगे।

अंग-अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख
निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिंगे ॥
बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों
कृपा-दृष्टि-जल पलुहावहिंगे ।
निज-वियोग-दुख जानि दयानिधि
मधुर बचन कहि समुझावहिंगे ॥

[सरमा का प्रवेश ।]

[सरमा की अवस्था सीता से चार-पाँच वर्ष अधिक है। वर्ण साँवला है, पर मुख और शरीर सुन्दर है। वस्त्र सीता के-से हैं। आभूषण भी पहने है ।]

सरमा—'आवहिंगे', नहीं सखि, आ गये । अभी-अभी मैं देखकर आ रही हूँ । रघुनाथजी अनुज सहित समुद्र के इस पार उतर आये । नौकाओं द्वारा आने के लिए नौकाएँ बनानी पड़तीं, उनके बनाने में बहुत विलम्ब होता, अतः सेतु बाँधकर आ गये, सखि ।

सीता—(प्रसन्न होकर उठते हुए) ये सब बातें तुम मुझे धैर्य बँधाने को कहती हो, सरमा, या ये सब सच्चे सम्वाद हैं ?

सरमा—सच्चे, सर्वथा सच्चे, सखि । इस उद्यान का कोट इतना ऊँचा है कि यहाँ से समुद्र नहीं दिख सकता, अन्यथा मैंने तुम्हें स्वयं दिखा दिया होता कि समुद्र पर कैसा सेतु बँधा है और बिना नौकाओं की सहायता के ही किस प्रकार उनकी वानर-भालू-सेना इस पार आ रही है । रघुनाथजी और सौमित्र के संग वानर और भालुओं की

आधी सेना तो इस ओर आ ही गयी और शेष आधी भी आज रात्रि तक आ जानेवाली है।

सीता—पर, सरमा, समुद्र पर सेतु बँधते आज तक नहीं सुना!

[दोनों बैठ जाती हैं।]

सरमा—इसमें तो आश्चर्य की बात नहीं है। जिस स्थान पर सेतु बांधा गया है वहाँ समुद्र गहरा नहीं है। वहाँ की पथरीली भूमि इतनी ऊँची उठी हुई है कि सहज में ही सेतु बँध गया। उसी ओर से तो हनुमान भी कहीं तैरते और कहीं चट्टानों पर विश्राम करते हुए आये थे।

सीता—**(आँसू भर)** तब तो आर्यपुत्र के दर्शन कदाचित् इस जीवन में सम्भव हो जायँगे, सखि।

सरमा—अब इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सीता—**(कुछ ठहरकर)** युद्ध भी अनिवार्य है, क्यों? राक्षस-राज रावण, अगणित राक्षस और इस सोने की लंका के नाश का कारण मैं ही होऊँगी, सरमा?

सरमा—तुम काहे को होगी, सखि? राक्षसराज का पाप इसका कारण होगा।

सीता—बिना युद्ध के वे मुझे आर्यपुत्र को न सौंपेंगे?

सरमा—उनके भ्राता ने उन्हें समझाया तो लात खायी और अन्त में उन्हें रघुनाथजी के पास जाना पड़ा, महारानी मन्दोदरी ने उन्हें समझाया सो महारानी को झिड़की मिली। जब नाश का समय उपस्थित होता है तब बुद्धि ठिकाने पर नहीं रहती।

सीता—सचमुच मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ। विवाह के समय कठिनाई से पिता की प्रतिज्ञा रही; ससुर के घर में पैर पड़ते ही पति को वनवास हुआ, ससुर की मृत्यु हुई, एवं सासुओं को वैधव्य; वन में पति के संग आयी तो वे भी सुखपूर्वक न रह सके तथा यह विग्रह खड़ा हुआ और लंका में पैर पड़ते ही लंका जली तथा राक्षस-कुल के नाश की सम्भावना दिख रही है।

सरमा—इसमें तुम्हारा क्या दोष है, देवि? तुम्हारे सुख के लिए, तुम्हारे उद्योग से, यह सब होता तो तुम दोषी थीं। तुम तो नारी-कुल की शोभा और पातिव्रत की मूर्ति हो। रक्षोराज रावण से कौन स्त्री अपना सतीत्व बचा सकी है? जिस-जिस पर उसने दृष्टि डाली—किसीने वैभव के लोभ और किसीने प्राणों के भय से अपना आत्म-समर्पण किया। तुम्हीं हो, मैथिली, कि तुमने उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं, इस स्वर्ग-तुल्य वैभव और इस कुन्दन से अपने शरीर को तुच्छ समझा, वह भी उस समय, वैदेही, जब रघुनाथजी के लंका में आ सकने की कोई सम्भावना न थी, इस दुख-समुद्र का कोई पार दृष्टिगोचर न होता था।

सीता—कोई नारी कैसे इस प्रकार आत्म-समर्पण कर सकती है, यह मेरी तो समझ में ही नहीं आता, सरमा। मुझे तो अपने पर उलटा इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि बिना आर्यपुत्र के अब तक मैं प्राण कैसे रख सकी! कदाचित् उन्हींका स्मरण मुझे जीवित रखे हुए है, वे विस्मृत हो जायँ तो कदाचित् यह शरीर क्षणमात्र भी नहीं रह सकता।

सरमा—किस-किस नारी के प्राण इस प्रकार केवल पति-दर्शन की अभिलाषा पर अवलम्बित रहते हैं!

सीता—न जाने कैसे आरम्भ से ही मुझे यह आशा रही कि आर्यपुत्र मुझे मिलेंगे। निराशा का कुहरा बार-बार हृदय पर छा जाता है, पर यह आशारूपी सूर्य इतना प्रखर है कि उस कुहर को बहुत देर नहीं ठहरने देता। आर्यपुत्र, आर्यपुत्र का क्या-क्या वृत्त कहूँ, सरमा? वह रूप, वह हृदय, वे चरित्र! आह! मिथिलापुरी की पुष्प-वाटिका में सर्व-प्रथम उनके दर्शन हुए थे, फिर धनुषयज्ञ के समय धनुषभंग के अवसर पर, इसके पश्चात् विवाह में और परशुराम के पराभव के समय और फिर तो गत ग्यारह मास के पूर्व नित्य ही। उषःकाल से शयन-पर्यन्त उनकी कैसी दिनचर्या है! आठों पहर और चौसठो घड़ी कैसे भाव उनके हृदय में उठते हैं! न उन्हें राज्याभिषेक का हर्ष था और न वनगमन का दुःख। हाँ, दूसरों के दुःख से वे अवश्य विचलित हो जाते हैं। मेरी जिन कैकेई सास ने उन्हें बनवास दिलाया उनके पश्चात्ताप तक ने जब आर्यपुत्र के कोमल हृदय पर ठेस पहुँचायी तब दूसरों के दुःखों से उनके हृदय की क्या दशा होती होगी, इसकी तो तुम भी कल्पना कर सकती हो, सखि। उनके अयोध्या के और इन तेरह वर्ष के वन के सारे चरित्रों का मैं क्या-क्या वर्णन करूँ, कहाँ तक करूँ, सरमा? अब तक न जाने तुम्हारे सम्मुख कितना वर्णन किया है। एक-एक चरित्र को वर्षों तक मैं नये-नये राग और नवीन-नवीन भावों में गान कर सकती हूँ। प्रातःकाल से ले दूसरे प्रातःकाल तक हृदय यही करता है। हृदय

के इसी गान से जीवित हूँ, इसीसे, सखि ।

सरमा—तुम धन्य हो, जानकी, धन्य, जिसे ऐसे पति प्राप्त हुए और धन्य हैं वे रघुनाथजी जिन्हें ऐसी पत्नी मिली। धन्य है तुम्हारा यह हृदय जिसमें पति के प्रति ऐसी श्रद्धा, ऐसी भक्ति और ऐसा अनन्य प्रेम है ।

सीता—मैं उनके योग्य हूँ, सरमा ? नहीं, मैं तो अपने को ऐसा नहीं समझती; वे अवश्य कहा करते हैं कि मैं उत्तम हूँ, सर्वोत्तम हूँ, मेरा हृदय उच्च है, सर्वोच्च है । रही उनके प्रति मेरी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम, सो यह तो अवश्य है । मैंने आज तक पिता-तुल्य पुरुषों और बालकों के अतिरिक्त समवयस्क किसी अन्य पुरुष का पूर्णरूप से मुख भी नहीं देखा, सखि । मनसा, वाचा और कर्मणा वे ही मेरे सर्वस्व हैं । उन्हींको मैं अपना धर्म, कर्म, तप, व्रत और ज्ञान मानती हूँ और मैं ही क्यों, सरमा, क्या वे मुझ पर कम प्रेम करते हैं ? जब तक मैं अयोध्या में रही, या, गत तेरह वर्षों तक वन में उनके साथ रही, उन्होंने मुझे सदा अपने हृदय और नेत्रों पर प्रतिष्ठित रखा । उनके संग के दिन ! आह ! उनके संग वन में भी तेरह वर्ष पल के सदृश निकल गये और ये वियोग के एक-एक मुहूर्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक क्षण-लव भी एक-एक युग के समान जा रहे हैं । ज्ञात नहीं, मेरे विना वन में उनकी क्या दशा होगी ? सन्तोष इतना ही है कि मेरे देवर उनके संग हैं । सरमा, प्यारी सरमा, तुम्हें आशा तो है न कि कभी मैं आर्यपुत्र के दर्शन करूंगी ?

[सरमा के गले से लिपट, सीता फूट-फूटकर रोने लगती है। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—लंकापुरी का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[दूर अनेक खण्डों के पीत रंग के गृह हैं। मार्ग साधारण रूप से चौड़ा है। दो राक्षस-सैनिकों का प्रवेश। दोनों मनुष्यों के समान ही हैं, पर वर्ण साँवला है। शरीर पर लोहे के कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हैं, आयुधों से भी सुसज्जित हैं।]

एक राक्षस—भयंकर योद्धा हैं, बन्धु, भयंकर योद्धा! दस दिनों के युद्ध में ही सारे राक्षस खेत रह गये। महावीर सुबाहु, शूर शिरोमणि कुंभकर्ण और वीरता का प्रत्यक्षरूप इन्द्रजीत सभी का संहार हो गया। अब मुट्ठी भर-सैनिकों के संग स्वयं रक्षोराज युद्ध करने निकले हैं। मुझे तो उनका निधन भी निश्चित दिखता है।

दूसरा राक्षस—इसमें संदेह नहीं। जब राम और लक्ष्मण के धनुष से बाण चलते हैं, चाहे वे दूर से चलाये जानेवाले बड़े बाण हों अथवा निकट से चलाये जानेवाले एक बीते लम्बे, तब कब धनुष नवाया गया, कब ज्या चढ़ायी गयी और कब बाण छूटे, इसका पता ही नहीं लगता; बाण चढ़ाते हुए उनके हाथ कभी कन्धे से छूटते हुए नहीं दिखते। इसी प्रकार जब उनकी सेना, अयःकणप यन्त्र से लोहे

के गोले और चक्राश्म और भुशुण्डी यन्त्रों से पाषाण-खण्ड हमारी सेना पर चलाती है तब जान पड़ता है मानों हमारी सेना पर लोहे के गोलों और पाषाण की, आकाश से, वृष्टि हो रही है।

पहला—इस रक्षोराज के पाप ने राक्षस-कुल का नाश कराया है; कदाचित् लंका में एक राक्षस भी न बचेगा।

दूसरा—वानरों और भालुओं का उतना संहार नहीं हुआ जितना राक्षसों का हुआ है।

पहला—क्यों होवे? हमारी सेना को युद्ध में कोई अनुराग नहीं। क्या हम हृदय से इस युद्ध को चाहते हैं? हमारी अन्तरात्मा कहती है कि हमारा पक्ष अन्यायपूर्ण है। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि कुंभकर्ण तक ने हृदय से युद्ध नहीं किया, वरन् उन्हें राम से उलटी सहानुभूति थी।

दूसरा—हाँ, बन्धु, जब कोई कार्य इच्छा के विरुद्ध करना पड़ता है तब यही दशा होती है। तभी तो अन्याय की हार और न्याय की जीत होती है। पर फिर भी युद्ध करना होगा; न करने पर भी तो मारे जायंगे।

पहला—यही भाव तो संसार में इतना रक्त-पात करा रहा है। यदि सैनिक मरने का भय छोड़, अन्यायपूर्ण युद्ध में भाग न लेने का निश्चय कर लें तो संसार का रक्त-पात ही बन्द हो जाय। युद्ध में मरते हैं, पर सच्चे सिद्धान्त के लिए मरने से डरते हैं। तभी तो मैं तुमसे सदा कहता हूँ कि युद्ध में सैनिक बहुधा भय से लड़ते हैं, वीरता से नहीं।

[एक राक्षस-सैनिक का प्रवेश। वह भी इन्हीं दोनों के समान है।]

आगन्तुक--अरे, अरे! तुम युद्ध छोड़कर यहाँ क्या कर रहे हो? आज का युद्ध तो अभी समाप्त हुआ है।

पहला—हम कोई एक घड़ी पहले हटे होंगे। दिन-भर मार-मार, काट-काट के मारे आज तो ऐसे थक गये थे कि क्षण-भर भी और ठहरने का साहस न हुआ।

दूसरा—और हम दो जन वहाँ रहते भी तो घड़ी-भर में राम-सेना को परास्त कर डालते क्या?

आगन्तुक—पर, बन्धुओ, आज तो बड़ी भारी सफलता मिली है।

पहला—कौन-सी?

आगन्तुक—रक्षोराज ने लक्ष्मण को शक्ति से आहत किया है।

दूसरा—अच्छा, तो वे इस लोक में नहीं हैं?

पहला—(खेद से) मुझे तो इस संवाद से उलटा दुःख होता है।

आगन्तुक—(आश्चर्य से) शत्रु-पक्ष से इतनी सहानुभूति!

पहला—न्याय से सभी की आन्तरिक सहानुभूति रहती है। अच्छा, इसे जाने दो, यह कहो, लक्ष्मण जीवित हैं या नहीं?

आगन्तुक--हाँ, अभी तो जीवित हैं, परन्तु मूर्च्छित हैं। जीवित भी बहुत थोड़े समय के लिए समझो।

पहला--यह तुम्हें कैसे विदित हुआ?

आगन्तुक—हमारे यहाँ का वैद्य उन्हें देखने गया था, उसीका यह मत था।

दूसरा—हमारा वैद्य उन्हें देखने कैसे गया!

आगन्तुक—उनके बुलाने से ।

पहला—तुम्हीं देख लो, सभी की उनके साथ कितनी सहानुभूति है ।

पहला—अच्छा, वैद्य ने क्या कहा, यह थोड़ा विस्तार से कहो ।

आगन्तुक—उसने कहा, संजीविनी बूटी के अतिरिक्त लक्ष्मण को और कोई वस्तु जीवित नहीं रख सकती और यदि प्रातःकाल तक वह न आयी तो उनका मरण निश्चित है । पर, वह बूटी बहुत दूर है और प्रातःकाल तक उसका आना असम्भव है ।

पहला—मुझे निश्चय है कि वह प्रातःकाल के पूर्व आ जायगी ।

आगन्तुक—यह कैसे ?

पहला—उनके अद्भुत-अद्भुत साथी हैं । स्मरण नहीं है, समुद्र के उथले स्थल का पता लगा समुद्र पार कर हनुमान कैसे आ गया था । कैसे एक हनुमान ने सारी लंका को जला डाला । नौकाओं द्वारा आने में नौकाएँ बनानी पड़तीं और नौकाओं के बनने में विलम्ब लगता, अत: नल-नील ने उसी उथले स्थल पर कैसे समुद्र का सेतु बाँध दिया कि बिना नौकाओं की सहायता के ही सारी वानर-भालू-सेना इस पार आ गयी । अंगद जब दूत बनकर हमारी राज-सभा में आया था और उसने चुनौती दी थी कि मैं उसे पराक्रमी समझूंगा जो मेरा पैर हटा देगा, तब इतनी बड़ी सभा में एक भी ऐसा वीर न निकला जो उसका पैर सूत-बराबर भी हटा सकता । फिर हमारे प्रत्येक महारथी का कैसा शीघ्रता से नाश हुआ । निर्बल वानर और भालू भी पराक्रमी राक्षसों को मार रहे हैं !

दूसरा—और, बन्धु, सबसे बड़ी बात तो यह है कि न्याय-पक्ष उनका है; न्याय-पक्ष के भगवान् सहायक होते हैं।

पहला—अच्छा, चलो अभी तो लक्ष्मण का और कुछ पता लगावें।

[तीनों का प्रस्थान। पर्दा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—लंका के बाहर राम की सेना का पड़ाव

समय—अर्द्ध रात्रि

[दूर लंका नगर दिखायी देता है। किन्तु दूर होने के कारण अन्धकार में वह बहुत धुँधला दिखता है। राम की सेना मैदान में, वृक्षों के नीचे डेरा डाले हुए हैं। राम की गोद में मूर्च्छित लक्ष्मण पड़े हैं। चारों ओर वानर और भालू बैठे हैं। भालुओं के शरीर भी मनुष्यों के समान ही हैं, पर मुख वानरों से मिलते हैं। नाक कुछ अधिक लम्बी है और वर्ण साँवला है। दो राक्षस भी हैं। एक के सिर पर किरीट है जिससे मालूम होता है कि वह विभीषण है। दूसरे के सम्मुख शीशियां, खलबट्टा आदि रखे हैं जिससे वह वैद्य जान पड़ता है। वानरों में एक वानर के सिर पर और भालुओं में एक भालू के सिर पर किरीट हैं, अतः ये सुग्रीव और जामवन्त जान पड़ते हैं।

राम—(दुःखित स्वर से किरीटवाले राक्षस से) आधी रात्रि बीत चुकी, लंकेश, आधी ही और शेष है। अर्द्ध रात्रि के पूर्व

हनुमान के आने की आशा थी; पर वे अब तक नहीं लौटे । क्या मन्दभागी राम के भाग्य में अभी और कुछ बदा है ?

राक्षस—आप दुःखित न हों, महाराज, हनुमान प्रातःकाल के पूर्व अवश्य आ जायँगे ।

राम—(**किरीटवाले बानर से**) क्यों, वानरेश, आपको पूरा भरोसा है कि हनुमान प्रभात के पूर्व आ जायँगे ?

वानर—हनुमान के कार्यों को आप स्वयं देख चुके हैं । श्रीमन्, मुझे तो यही आश्चर्य है कि वे अब तक क्यों नहीं लौटे; उनके प्रभात के पूर्व लौटने में तो मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है ।

राम—(**और भी विकल हो**) और यदि वे न आये तो हे लंकेश, हे वानरेश, मैं अयोध्या को न लौटूंगा । इतने राक्षसों का संहार हो चुका, फिर बचे हुओं का संहार कर, लंका को जीत और वैदेही का उद्धार कर ही मैं क्या करूंगा ? बिना लक्ष्मण के मेरा जीवन पलमात्र के लिए सम्भव नहीं है । मेरे बिना मैथिली का जीवन असम्भव है । यदि ठीक समय पर हम अयोध्या न पहुंचे तो भरत कदापि प्राण न रखेंगे । भरत बिना शत्रुघ्न क्यों जीवित रहेंगे ? जब हम चारों भाई ही न रहेंगे तो हमारी माताएं और बधुएँ क्यों प्राण रखेंगी ? अवध की प्रजा का वृत्तान्त मैं आपको सुना ही चुका हूँ । लक्ष्मण के बिना अवध का सारा साम्राज्य श्मशान-तुल्य हो जायगा । आप लोगों का यह समस्त सदुद्योग क्या इस प्रकार निष्फल हो जायगा, बन्धुओ ?

राक्षस—नहीं, महाराज, यह असम्भव है । धर्म न्याय, और

सत्य का कभी यह फल नहीं हो सकता ।

वानर—कर्तव्य-परायणता का यह परिणाम सम्भव नहीं ।

राम—(**लक्ष्मण को देख**) लक्ष्मण, प्यारे लक्ष्मण, सुमित्रा के एकमात्र प्राणाधार, उर्मिला की जीवन-नौका के खेवट, वैदेही के परम प्रिय देवर, राम के सर्वस्व, उठो, वत्स उठो । (**आँखों में आँसू भर**) तुम तो सदा मेरी आज्ञा मानते थे । मेरी आँख के संकेत पर सब-कुछ करने के लिए कटिबद्ध रहते थे । क्या आज मुझे भी भूल गये, प्यारे भ्राता ? तुमने तो मेरे सम्मुख कभी पिता की अपेक्षा नहीं की, माता की ममता न रखी, पत्नी का वियोग इस अवस्था में सहा, आहार, निद्रा, किसीकी ओर लक्ष्य न रख, वन-वन और अरण्य-अरण्य मेरे पीछे घूमे, मेरे पीछे भटके । मेरी यह उपेक्षा क्यों, बन्धु ? मैं अवध न भी गया और मैंने प्राण भी दे दिये तो पूज्यपाद सुमित्रा मुझे क्या कहेंगी ? जिसे मैं सदा सौभाग्यवती देखकर प्रसन्न रहने की अभिलाषा रखता था, उस उर्मिला वधू का क्या होगा ? लक्ष्मण ! हा, लक्ष्मण ! प्रिय वत्स लक्ष्मण ! उठो, बन्धु; जागो, भ्राता !

राक्षस—महाराज, धैर्य; थोड़ा धैर्य धरिए । हनुमान आते ही होंगे ।

भालू—हनुमान का आना निश्चित है, महाराज ।

राम—(कातरता से) कैसे धैर्य धरूँ, लंकेश, वानरेश ? समय बीतता जा रहा है; पल पर पल, त्रुटि पर त्रुटि, कला पर कला, काष्ठा पर काष्ठा और घटिका पर घटिका व्यतीत हो रही है । पहले

अर्द्धरात्रि के पूर्व ही हनुमान के आने की आशा थी, पर अब रात्रि आधी से कहीं अधिक बीत चुकी। हा ! लक्ष्मण को पिता ने वनवास नहीं दिया था, मुझे दिया था। ये और वैदेही तो मेरे कारण वन आये। बन्धुओ, मैं जीता-जागता बैठा हूं, वैदेही रावण के बन्धन में पड़ी है और भ्राता मृत्यु मुख में। जो कुछ अब तक हुआ है उससे तो भविष्य अधिक अन्धकारमय ही दिखता है। मेरा भाग्य मुझे ही दुःख नहीं दे रहा है, पर जिन-जिनसे मेरा सम्बन्ध होता है सभी क्लेश पाते हैं। पिता की मृत्यु और माताओं तथा भ्राताओं एवं सारी प्रजा के कष्ट का मैं ही कारण हूँ। ये दो आत्मीय संग आये थे, इनकी यह दशा हुई। पुण्यात्मा जटायु ने वैदेही की रक्षा के लिये मेरे कारण रावण से युद्ध किया तो उनके भी प्राण गये। फिर कैसे शुभाशा करूँ, बन्धुओ ? कैसे मन को ढाढ़स मिले ?

[**नेपथ्य में कोलाहल होता है और ये शब्द होते हैं--"आ गये हनुमान आ गये", "पवनकुमार पधार आये", "अंजनासुत की जय", "राजा रामचन्द्र की जय ", "वीरवर लक्ष्मण की जय" एक वानर का एक पर्वत-शिखर लेकर प्रवेश। वह वैद्य के सम्मुख पर्वत-शिखर रखता है। राम लक्ष्मण का सिर धीरे से नीचे रख, दौड़कर आगन्तुक वानर को हृदय से लगा लेते हैं। राम के नेत्रों में प्रेमाश्रु आ जाते हैं। पर्वत-शिखर की जमी हुई घास को निकाल वैद्य खल में कूट उसका रस लक्ष्मण के मुख में डालते हैं। सब लोग एकटक आतुरता से लक्ष्मण की ओर देखते हैं। रस मुख में जाने के कुछ देर पश्चात् लक्ष्मण, "हे तात, हे तात, रक्षो-**

राज क्या अभी भी जीवित है", कहते हुए नेत्र खोल, उठ बैठते हैं। राम लक्ष्मण को हृदय से लगाते हैं। पुनः जय-जयकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—एक वन मार्ग

समय—तीसरा पहर

[एक वानर और एक भालू का प्रवेश।]

वानर—अन्त में रक्षोराज का भी वध हुआ। देखा, अधर्म का क्या फल निकला?

भालू—हाँ, बन्धु, सच है, अधर्म सदा वंश-भर को डुबोकर रहता है।

वानर—विभीषण के कुटुम्ब को छोड़, तथा बालक, वृद्ध और स्त्रियों के अतिरिक्त कोई भी लंका में न बचा। पाप करनेवाले ही दण्ड नहीं पाते, पर पाप के पोषक भी पापी के संग ही पिस जाते हैं। पाप-रूपी दव के लिए द्रव्य और बल वन से अधिक नहीं है; पर हाँ, तुमने एक बात देखी?

भालू—क्या?

वानर—इतने उद्योग से जिन सीता देवी का रघुनाथजी ने उद्धार किया, जब उनके समीप लाने की चर्चा हुई तब हर्ष के स्थान पर उलटा शोक उनके मुख पर झलक रहा था।

भालू—मैंने तो ध्यान नहीं दिया, पर कारण?

वानर—तुम्हींने क्या किसीने भी कदाचित् उनकी मुद्रा की ओर ध्यान न दिया होगा। ऐसे असीम हर्ष के समय कौन किसीकी मुद्रा देखता है। कदाचित् मेरा भी भ्रम ही हो, पर नहीं वे उदास अवश्य थे। उदासी का कोई कारण भी समझ में नहीं आता। देखो, अभी वैदेही के आगमन के समय कदाचित् कोई गूढ़ रहस्य खुले।

[नेपथ्य में "जय, जानकी की जय", "वैदेही की जय", "मैथिली की जय" शब्द होते हैं।]

वानर – लो, ज्ञात होता है वे शिविर में आ गयीं। चलो, देखें, वियोग के पश्चात् पति-पत्नी किस प्रकार मिलते हैं।

भालू—हाँ, हां, शीघ्र चलो।

[दोनों का शीघ्रता से प्रस्थान। पर्दा उठता है]

पांचवां दृश्य

स्थान—राम की सेना का पड़ाव

समय—तीसरा पहर

[वानर और भालुओं के बीच में राम और लक्ष्मण बैठे हैं। राम अत्यन्त उदास मालूम होते हैं। बाक़ी सब प्रसन्न हैं। जय-घोष के बीच सीता और सरमा का प्रवेश।]

सीता—**(आँसू बहाती हुई शीघ्रता से राम की ओर बढ़)** आर्य-पुत्र, आर्य-पुत्र! **(राम के चरण पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाती हैं, उदास राम खड़े होकर पीछे हट जाते हैं। लक्ष्मण भी खड़े हो जाते हैं।)**

राम—ठहरो, मैथिली, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नहीं हो।

[सीता स्तम्भित हो जाती हैं, लक्ष्मण आश्चर्य से एकटक राम की ओर देखने लगते हैं। सारा जन-समाज चौंक पड़ता है। निस्तब्धता छा जाती है। कुछ देर पश्चात् राम धीरे-धीरे बोलते हैं।]

राम—बन्धुओ! जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्त्तव्य था, यदि मैं यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवंश के निर्मल आकाश में मैं धूमकेतु के तुल्य हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैंने आप लोगों की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवंश की प्रतिष्ठा रह गयी; पर, पर-गृह में रही हुई स्त्री का, चाहे वह मुझे प्राणों से प्रिय क्यों न हो, ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है; यह धर्म की मर्यादा और नीति की सत्ता का उल्लंघन होगा। जिस मर्यादा के बाहर मैं बाल्यावस्था से ही कभी नहीं गया हूँ और जिसके लिए मैं चौदह वर्ष को वन आया हूँ, उस धर्म और नीति की मर्यादा का उल्लंघन मेरे लिए असम्भव है। **(सीता से)** मैथिली, मैं जानता हूँ इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे इस सदा के वियोग के कारण यदि मेरे प्राण तत्काल न गये और यदि मैं भविष्य के अपने कर्तव्यों को करने के लिए इस शरीर को जीवित रख सका तो भी तुम्हारे वियोग का दुःख सदा मुझे पीड़ित करता रहेगा। उन दिनों, उन घटिकाओं, उन पलों की स्मृति, जो मैंने

तुम्हारे संग अयोध्या में और वन में व्यतीत किये हैं, सदा मुझे व्यथित करती रहेगी। तुम यह न सोचना कि पुनः विवाह कर, चाहे वह सुख के लिए हो या सन्तान के अथवा यज्ञ के, मैं तुम्हारे स्थान की पूर्ति कर लूँगा। नहीं, वैदेही, नहीं, राम से यह कभी न होगा। गृहस्थ-सुख से वंचित राम चाहे दुःख पावे, संतति-रहित राम पितृ-ऋण न चुका सकने के कारण चाहे पुनः जन्म लेवे, तुम्हारे बिना यज्ञ न कर सकने के कारण राम चाहे नरक में पड़े, पर अन्य स्त्री का राम के हृदय पर प्रतिष्ठित होना असम्भव है; साथ ही धर्म और नीति की मर्यादा की रक्षा के हेतु तुम्हारे और मेरे इस शरीर के रहते हमारी भेंट भी अब सम्भव नहीं। (जल्दी-जल्दी) तुम स्वतन्त्र हो, मैथिली, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जा सकती हो और जो तुम्हारी इच्छा हो वह कर सकती हो।

[राम के भाषण से लक्ष्मण सहित सारा जन-समुदाय अपना मस्तक झुका लेता है, किसीके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। निम्न-मुख सीता के नेत्रों से बहते हुए अश्रु उनके वक्षस्थल के वस्त्र को भिगो देते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। उसके पश्चात् रुँधे हुए कण्ठ से सीता धीरे-धीरे बोलती हैं।]

सीता—नाथ, धर्म की मर्यादा और नीति की रक्षा के लिए आपने जो कुछ कहा उचित ही होगा, पर मेरे लिए तो मेरा धर्म, मेरी नीति **(राम के चरणों की ओर संकेत कर)** ये चरण ही हैं। राक्षस के गृह में इतने काल तक रहने में मेरा कोई दोष नहीं है यह

आप स्वीकार ही करते हैं। मैं आपको इतना विश्वास दिला सकती हूँ कि मैं शुद्ध, नितान्त शुद्ध हूँ। आर्यपुत्र, यदि यह शरीर शुद्ध न होता तो आपके चरणों के समीप आने के पूर्व ही नष्ट हो जाता, इसका इस भूमि पर रहना ही सम्भव न था। आप कहते हैं, मैं स्वतन्त्र हूँ और जहाँ चाहे वहाँ जा सकती हूँ, परन्तु, नाथ, इन चरणों के अतिरिक्त संसार में मेरे लिए स्थान ही कहाँ है ? पर नहीं, मैं आपके धर्म, आपकी नीति और आपके कर्त्तव्य-मार्ग का कण्टक न बनूँगी। मैं आपको अपने ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहती। उन राजर्षि विदेह की कन्या, जिन्हें शरीर रहते हुए भी शरीर का कोई मोह न होने के कारण विदेह की पदवी मिली है, उन महाराज दशरथ की वधू, जिन्होंने अपने वचन को सत्य करने के लिए अपने शरीर को भी छोड़ दिया और उनकी पत्नी जो धर्म, नीति और कर्त्तव्य के मूर्तिमन्त स्वरूप हैं, अपने स्वार्थ-हेतु, प्रेम अथवा किसी भी साधन द्वारा आपको किसी बात के लिए भी विवश करने का प्रयत्न तक न करेगी। परन्तु, आर्यपुत्र, आपने मुझे जो दूसरी स्वतन्त्रता दी है, अर्थात् मैं जो चाहूँ सो कर सकती हूँ, उसका मैं आज उपयोग करूँगी। संसार में मेरे लिए अन्य कोई स्थान न रहने के कारण या तो मैं इन चरणों के सम्मुख अग्नि में भस्म हो जाऊँगी या यदि सतीत्व का प्रताप अग्नि से भी रक्षा कर सकता है तो उस अग्नि की लपटों में से भी जीती-जागती निकल, आपके चरण-स्पर्श करने योग्य अपने को सिद्ध कर दूँगी।

राम—(**प्रसन्न हो गद्गद कण्ठ से**) वैदेही, तुम राजर्षि

विदेह की सच्ची पुत्री हो, तुम महाराज दशरथ की सच्ची वधू हो; नहीं तो ऐसे वाक्य किस नारी के मुख से निकल सकते हैं ? ऐसा साहस कौन नारी कर सकती है ? मैथिली, यदि अग्नि भी तुम्हें भस्म न कर सकी तो मैं तुम्हें अवश्य ग्रहण कर लूँगा। संसार में अपने सत्य की आज तक ऐसी परीक्षा किसीने नहीं दी।

सीता—(जल्दी-जल्दी) नाथ, अब आप तत्काल काष्ठ की चिता बनवाइए, मुझे इस समय का एक-एक पल युग से भी अधिक हो रहा है।

राम—(लक्ष्मण से) लक्ष्मण, बिना विलम्ब इसका प्रबन्ध करो।

लक्ष्मण—(दीर्घ निश्वास छोड़) जो आज्ञा।

[लक्ष्मण कुछ वानर और भालुओं के संग जाते हैं, काष्ठ आता है, चिता तैयार होती है। उपस्थित जन-समुदाय मस्तक नीचा कर एकटक चिता की ओर देखता है। अनेक के नेत्रों से अश्रु बहते हैं।]

राम—अच्छा, लक्ष्मण, इसमें अग्नि लगाओ।

लक्ष्मण—(दीर्घ निश्वास छोड़) यह भी मैं ही करूँ, तात ?

राम—क्यों, तुम्हें खेद होता है ?

लक्ष्मण—आपकी कोई भी आज्ञा मानने में मुझे खेद नहीं हुआ, पर........।

राम—अच्छा, मैं ही करता हूँ। **(राम आगे बढ़ते हैं।)**

लक्ष्मण—(जल्दी से) नहीं, नहीं, तात, मैं ही करूँगा, मैं ही करूंगा। आपकी कोई भी आज्ञा लक्ष्मण कैसे उल्लंघन कर सकता है।

[लक्ष्मण चिता में अग्नि लगाते हैं। कुछ देर में ज्वालाएं निकलने लगती हैं।]

सीता—(चिता की ओर देख, राम के निकट बढ़कर) जाती हूँ, आर्यपुत्र, इस चिता की भीषण अग्नि को आलिंगन करने सहर्ष जाती हूँ। यदि सतीत्व के प्रताप ने इस अग्नि से रक्षा की तो इसी शरीर से आपको पुनः प्राप्त करूँगी अन्यथा जहाँ इस शरीर को छोड़-कर जाऊँगी वहाँ।

[सीता चिता की ओर बढ़ती हैं। राम का मस्तक अत्यधिक झुक जाता है। जन-समूह मस्तक उठा एकटक सीता और चिता को देखता है।]

सरमा—(एकाएक आगे बढ़ चिता और सीता के बीच में आ) ठहरो, वैदेही, ठहरो। मैं भी तुम्हारे संग चितारोहण करूँगी।

[सीता आश्चर्य से स्तंभित हो रुक जाती है, जन-समुदाय की दृष्टि एकाएक सरमा की ओर घूम जाती है, जिसमें अत्यधिक आश्चर्य दृष्टिगोचर होता है। राम सिर उठा तथा विभीषण आश्चर्य से सरमा की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। सरमा सीता की भुजा पकड़ चिता की ओर बढ़ती है।]

राम—(शीघ्रता से) ठहरिए, सरमा देवी, ठहरिए। आप यह क्या अनर्थ कर रही हैं और क्यों?

सरमा—(रुककर) एक महान् अनर्थ को रोकने के लिए, देव।

सीता—(जल्दी से) मेरी रक्षा के लिए? जिसमें तुम्हारे कारण मैं चितारोहण न करूँ?

सरमा—नहीं, मैथिली, परन्तु इसलिए कि जगत् में एक मिथ्या बात सत्य सिद्ध न हो पावे ।

सीता—मैं तुम्हारा अभिप्राय ही नहीं समझी ।

सरमा—देखो, वैदेही, तुम अपने सतीत्व का इस प्रकार प्रमाण देने जा रही हो जिससे उल्टा यह सिद्ध होगा कि तुम सती न थीं । तुम्हारे समान सती का, ऐसी सती का, जिससे बड़ी सती मेरे मतानुसार आज पर्यन्त इस संसार में कभी नहीं हुई, असती सिद्ध होना जगत् में एक महान् मिथ्या बात का सत्य सिद्ध होना होगा ।

सीता—अभी भी मैं तुम्हारे कथन का अर्थ नहीं समझ सकी ।

सरमा—तुम समझती हो कि इस अग्नि से अपने सतीत्व के प्रताप के कारण तुम जीती हुई निकल आओगी ?

सीता—मैं नहीं जानती कि क्या होगा ।

सरमा—परन्तु मैं जानती हूँ । तुम्हारा भस्म होना निश्चित है । सतीत्व का प्रताप आधिभौतिक शरीर को अग्नि से बचा सकने में असमर्थ है । अग्नि का धर्म दग्ध करना है । वह पवित्र और अपवित्र दोनों को समानरूप से दग्ध करती है । तुम्हारा शरीर नष्ट होते ही संसार कहेगा तुम अपनी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गयीं अतः तुम सती न थीं । मैं किसी पर-पुरुष के गृह में नहीं रही हूँ । मैं तुम्हारे संग चितारोहण कर संसार को इस बात का प्रमाण देना चाहती हूँ कि अग्नि का धर्म ही जलाना है, अतः उसने सती सीता के संग ही सती सरमा के शरीर को भी जला दिया । सीता इसलिए

भस्म हो गयीं कि अग्नि का धर्म भस्म करना है न कि इसलिए कि वे असती थीं।

[जन-समुदाय में 'धन्य है, धन्य है' शब्द होता है।]

सीता—परन्तु........परन्तु........मेरे लिए तुम........।

सरमा—तुम्हारे लिए नहीं, मैथिली, किन्तु संसार में एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने के........!

[सरमा सीता की भुजा पकड़े हुए पुनः चिता की ओर बढ़ती है। जन-समुदाय में हाहाकार होता है।]

लक्ष्मण—(आगे बढ़ सीता और सरमा से) ठहरिए, माता, और ठहरिए, सरमा देवी। मुझे तात से एक बात पूछ लेने दीजिए। (दोनों रुक जाती हैं। राम से—) तात, इन दोनों सतियों को इस प्रकार भस्म होने देना ही क्या आप इस समय का धर्म और कर्तव्य मानते हैं? सरमा देवी के इस कथन में क्या आप सत्यता नहीं देखते कि अग्नि का धर्म ही जलाना है; वह पवित्र और अपवित्र दोनों को ही जलाती है?

राम—(काँपते हुए स्वर में) परन्तु, लक्ष्मण, राक्षस के गृह रही हुई सीता को ग्रहण करना धर्म और कर्तव्य की दृष्टि से कहाँ तक उचित है यह प्रश्न भी तो मेरे सम्मुख है।

लक्ष्मण—सीता देवी अपनी पवित्रता का इससे बड़ा क्या प्रमाण दे सकती थीं, आर्य, कि वे अग्नि को भी आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हैं। अब एक ओर इन दोनों सती-साध्वियों के शरीर की रक्षा और इनकी शरीर रक्षा ही नहीं, परन्तु उससे भी कहीं

बड़ी वस्तु एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने का प्रश्न है और दूसरी ओर आपका सीता देवी के ग्रहण करने का प्रश्न। तात, क्या अग्नि को इस प्रकार आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत होना ही उनकी अग्नि-परीक्षा नहीं है? क्या आज पर्यन्त अपने सतीत्व की ऐसी परीक्षा किसीने दी है?

[राम पुनः मस्तक झुका लेते हैं। जन-समुदाय उत्कंठित हो एकटक राम की ओर देखता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

लक्ष्मण—(राम को उत्तर न देते देखकर जन-समुदाय की ओर लक्ष्य कर) क्या आप लोग सीता देवी की इस परीक्षा को ही अग्नि-परीक्षा नहीं मानते? क्या उनकी शुद्धता में किसीको सन्देह है?

जन-समुदाय—(एक स्वर से) किसीको नहीं, किसीको नहीं। वैदेही नितान्त शुद्ध हैं। मैथिली परम पवित्र हैं। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है।

[राम मस्तक उठाकर आँसू-भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं।]

यवनिका

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[मार्ग वही है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। एक ओर से चार पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—समय निकलते कुछ भी विलम्ब नहीं लगता।

दूसरा—हाँ, देखो न, दुःख के चौदह वर्ष भी किसी न किसी प्रकार बीत ही गये।

तीसरा—पर, जिस प्रकार गत आठ मास बीते हैं उस प्रकार चौदह वर्ष न बीते थे।

चौथा—राम-राज्य सचमुच जैसी कल्पना की थी वैसा ही हुआ। आज राम को सिंहासनासीन हुए लगभग आठ मास ही हुए, परन्तु इन आठ मासों में ही अवध का कैसा कायाकल्प हो गया। राम राजाओं के चारों व्यसनों मद्यपान, द्यूत, स्त्री-संभोग और मृगया से मुक्त हैं। यदि उन्हें भी कोई व्यसन है यह मान लिया जाय तो प्रजा-सेवा ही उनका व्यसन है। इसीलिए प्रजा को स्वर्गीय सुख है।

तीसरा—इस सूर्यवंश में भी कैसे-कैसे महान् जन हुए। ये चार भाई हुए तो चारों ही अपूर्व। राम की कर्तव्यशीलता अद्वितीय, लक्ष्मण की आज्ञा-परायणता अद्भुत, भरत का त्याग असीम और शत्रुघ्न का विलक्षण कार्य तो गत चौदह वर्षों में देख ही लिया है।

पहला—पर, तुमने एक बात सुनी?

तीसरा—क्या?

पहला—जानकी को गर्भ है।

तीसरा—हाँ, यह तो सुना है और सुनकर बड़ा आनन्द भी हुआ।

पहला—पूरे दिन होना चाहते हैं।

चौथा—सो भी होगा, फिर?

पहला—फिर क्या? राम को राक्षस के घर रही हुई पत्नी को ग्रहण करना क्या उचित था?

दूसरा—पर उन्होंने सीता देवी की परीक्षा के पश्चात् उन्हें ग्रहण किया है।

तीसरा—और वह भी मैथिली ने ऐसी परीक्षा दी जैसी संसार में आज तक किसीने न दी थी। सुना नहीं, वे अग्नि में प्रवेश कर ज्यों की त्यों बाहर निकल आयी थीं।

पहला—यह तो राम तक नहीं कहते, परन्तु हाँ, यह अवश्य सुना कि उन्होंने अपनी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए अग्नि में प्रवेश करने का प्रस्ताव किया था।

तीसरा—नहीं, नहीं, उन्होंने अग्नि में प्रवेश किया और उनकी पवित्रता के कारण अग्नि भी उन्हें नहीं जला सकी।

पहला—व्यर्थ की बातें न करो। जो बात राम स्वयं नहीं कहते वे उनके भक्त फैला रहे हैं। स्त्रियाँ पति के साथ अग्नि में सती हो सकती हैं, पर आज तक स्त्री ही क्या कोई भी प्राणी चिता से जीवित निकला है; बिना जले जैसा का तैसा ? यह प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। मैंने तो ऐसी बात देखना दूर रहा, न कभी सुनी और न कहीं पढ़ी है।

चौथा—इससे क्या, आज तक कोई सीता देवी सदृश सती उत्पन्न ही न हुई होगी।

पहला—वाह ! वाह ! यह तुमने अच्छा कहा । पतिव्रत का ठेका कुछ सीता ही ने ले लिया है ? हम लोगों की स्त्रियाँ भी पतिव्रता हैं, वे भी सती हैं।

तीसरा—तो इस बात को दूसरी प्रकार से देखो, किसी सती को अब तक अपने सत् की परीक्षा देने का ऐसा अवसर नहीं मिला।

पहला—इस प्रकार और उस प्रकार क्यों देखूं ? हर वस्तु को घुमा-फिरा कर देखने की अपेक्षा सीधी दृष्टि से देखना ही उत्तम होता है। मैं तो यह भी नहीं मानता कि वैदेही ने अपनी शुद्धता की परीक्षा देने के लिए अग्नि में प्रवेश करने का भी प्रस्ताव किया होगा।

तीसरा—तब यह अग्नि-परीक्षा की चर्चा ही कैसे हुई ?

पहला—स्पष्ट ही सुनना चाहते हो ?

चौथा—हाँ, हाँ, कहो न ?

पहला—राम सीता देवी पर अत्यधिक प्रेम करते हैं और प्रजा में अपवाद भी नहीं चाहते इसलिए।

तीसरा—अर्थात् राम ने ही यह झूठ बात फैलवायी है।

चौथा—कदापि नहीं, राम ऐसी मिथ्या बात कभी नहीं फैला सकते।

पहला—यह अपने-अपने विश्वास की बात है।

दूसरा—**(सिर हिलाते हुए)** जो कुछ भी हो, पर अच्छा ही होता यदि महाराज सीता देवी को ग्रहण न करते।

पहला—सच कहा, यह उनके निष्कलंक चरित्र में सदा कलंक रहेगा। सूर्यवंश में ऐसा कोई नहीं हुआ, जिसने पर-घर में रही हुई स्त्री को ग्रहण किया हो।

तीसरा—यदि यह उनका दोष भी मान लिया जाय तो दोष किसमें नहीं होते?

चौथा—हाँ, गुणी सदा गुण की ओर ही लक्ष्य रखते हैं।

पहला—पर, सर्व-साधारण की दृष्टि सदा दोषों की ओर ही जाती है। यह अपवाद राज्य में बहुत फैलता जा रहा है। जब से लोगों को ज्ञात हुआ है कि जानकी गर्भवती हैं तब से तो बहुत अधिक चर्चा हो रही है। लोग कहते हैं कि क्या अब राक्षस-पुत्र अवध के राजा होंगे।

चौथा—इस पंचायत ही पंचायत में वह धर्म-सभा समाप्त हो जायगी और हम यहीं खड़े रह जायँगे।

तीसरा—हाँ, हाँ, चलो। इस प्रकार की चर्चाएँ तो नित्य की

चक्की हैं, चला ही करती हैं ।

[चारों का प्रस्थान । परदा उठता है ।]

दूसरा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद का कक्ष

समय—तीसरा पहर

[कक्ष वही है जो पहले अंक के पहले दृश्य में था । राम चौकी पर बैठे और लक्ष्मण खड़े हैं । दोनों के राजसी वेष हैं ।]

लक्ष्मण—**(सिर नीचा किये, दुःखित स्वर में)** तो, महाराज, यह आपका अन्तिम निर्णय है ।

राम—**(दुःखित स्वर में जल्दी-जल्दी)** हाँ; लक्ष्मण, अन्तिम, सर्वथा अन्तिम । राजा का कर्तव्य प्रजा-पालन ही न होकर प्रजा-रंजन भी है । जिस राजा के लिए प्रजा में इस प्रकार का अपवाद हो वह राजा न राज्य के योग्य ही है और न राज्य कर ही सकता है ।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, महारानी निर्दोष, सर्वथा निर्दोष हैं; शुद्ध, नितान्त शुद्ध हैं ।

राम—परन्तु यह अपवाद उन्हें शुद्ध कह देने मात्र से शान्त नहीं होगा । वत्स, इसके लिए मुझे और वैदेही दोनों को ही तपस्या करनी होगी ।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, वे अपनी शुद्धता प्रमाणित करने के लिए अग्नि को आलिंगन करने के लिए भी प्रस्तुत थीं ।

राम—अग्नि को आलिंगन किया तो नहीं न ?

लक्ष्मण—जिस प्रकार वे प्रस्तुत हुई थीं उस प्रकार प्रस्तुत होना ही क्या उनकी शुद्धता का पूर्ण प्रमाण नहीं है ?

राम—प्रजा तो उनका उस प्रकार प्रस्तुत होना भी नहीं मानती।

लक्ष्मण—प्रजा यदि कोई बात नहीं मानती तो प्रजा के अनुचित हठ के कारण महारानी को त्याग उन पर अत्याचार करना भी तो अधर्म है।

राम—हो सकता है; पर मैं स्वयं अपने सुख के लिए यह अधर्म नहीं कर रहा हूँ। मुझे क्या मैथिली के त्याग से कम दुःख होगा ? मेरा मन क्या रात्रि और दिवस उसके ऊपर किये गये अत्याचार और उसके वियोग से नहीं कुढ़ेगा, हृदय नहीं फटेगा, विदीर्ण न होता रहेगा ? लगभग एक वर्ष तक जब उनका और मेरा वियोग रहा, तब तुमने मेरी स्थिति नहीं देखी थी ? यह वियोग तो, सम्भव है, चिर-वियोग हो जावे। सम्भव है, वैदेही अपने प्राण ही त्याग दे या इसे न सह सकने के कारण, सम्भव है, मेरा यह शरीर ही न रहे। पर इससे क्या, इससे क्या, वत्स ? राजा के कर्तव्य का पालन तो करना ही होगा। जब राजपद का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है तब एक वैदेही के प्रति अत्याचार करने के भय से अथवा एक वैदेही के प्रति अधर्म हो जाने के डर से, चाहे वह मुझे कितनी ही प्रिय क्यों न हो, सारी प्रजा को असन्तुष्ट तो नहीं किया जा सकता, छोटे पाप के लिए एक बड़ा पाप तो नहीं हो सकता।

लक्ष्मण—(आँसू भर) महाराज, महारानी गर्भवती हैं; पूरे दिन हैं।

राम—(खड़े हो, भर्राये हुए स्वर से) अब और कुछ न कहो, वत्स, और कुछ न कहो। पिता की मृत्यु का कारण राम है और सन्तान की मृत्यु का कारण होना भी कदाचित् राम के भाग्य में लिखा है, राम का जन्म रूखा-सूखा कर्तव्य पालन करने और दुःख पाने के लिए ही हुआ है, सुख के लिए नहीं। तुम तो मेरी आज्ञा बिना प्रश्न किये ही मानते रहे हो; जाओ, इसका भी पालन करो, लक्ष्मण, इसका भी। तपोवन-दर्शन की उसने इच्छा प्रकट की थी, अतः वाल्मीकि के आश्रम के निकट, अत्यन्त निकट उसे छोड़ना। वहीं उसे मेरा सन्देश देना, यहाँ नहीं, लक्ष्मण। देखो, स्पष्ट कहना कि राम तुम्हें शुद्ध, नितान्त शुद्ध समझता है, पर, जन-साधारण के सन्तोष के लिए यह आवश्यक है कि वह और मैं दोनों ही तपस्या करें।

लक्ष्मण—(कातर दृष्टि से राम की ओर देखते हुए) महाराज........महाराज........।

राम—(सिर नीचा कर इधर-उधर टहलते हुए) बस, वत्स, बस, अब एक शब्द नहीं; इस विवाद से मुझे दुःख, घोर दुःख होता है; मेरा हृदय फटता है। जाओ, जाओ, शीघ्रातिशीघ्र जाओ। जो मैंने कहा वही करो; मुझसे अब इस सम्बन्ध में एक शब्द न कहो।

[लक्ष्मण की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। वे मस्तक नीचा किये धीरे-धीरे चले जाते हैं। लक्ष्मण के जाने के पश्चात्

राम—"हाय रे हतभाग्य राम" यह कहते हुए बैठकर अपना सिर हाथों पर रख लेते हैं। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—प्रातःकाल

[मार्ग वही है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। दो पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—सुना, बन्धु, प्रजा में अपवाद के कारण प्रजा के संतोष के लिए महाराज ने सती महारानी का भी त्याग कर दिया।

दूसरा—हाँ, और उस समय, जब वे गर्भवती हैं।

पहला—फिर उन पर महाराज का अत्यधिक प्रेम है!

दूसरा—कौन करेगा, बन्धु, कौन राजा अपने कर्तव्य का इस प्रकार पालन करेगा?

[एक ओर से वसिष्ठ और दूसरी ओर से हाथ में एक बालक का शव लिए एक ब्राह्मण का प्रवेश।]

ब्राह्मण—(वसिष्ठ से) दुहाई है, भगवन्, दुहाई है। आप ही के पास जा रहा था, आप ही के। इस दुःखी ब्राह्मण का कष्ट निवारण कीजिए। यह देखिए, यह मेरा पुत्र मर गया है। इकलौता पुत्र था, प्रभो, इकलौता। जब से राम का राज्य हुआ तब से तो किसी पिता के सम्मुख कोई पुत्र नहीं मरा। मैंने बहुत विचार कर देखा, मैंने कोई पाप नहीं किया, जिससे यह मर जाता। इसकी माता ने भी

विचारा, उसने भी कोई पाप नहीं किया; फिर यह किस पाप से मर गया, देव ? राजा के पाप से, अथवा कुल-गुरु के पाप से ? या तो आप मुझे सन्तुष्ट कीजिए, या मैं भी इस बालक के संग ही अपने प्राण दे दूँगा, इसकी माँ भी मर जायगी और एक ब्राह्मण का कुल नष्ट हो जायगा। (रोता है।)

वसिष्ठ—इतने दु:खित और आतुर न हो, ब्राह्मण, इस पर विचार होगा। राम राज्य में यह अनर्थ सचमुच आश्चर्यजनक है। चलो, मैं तुम्हारे साथ पहले आश्रम को चलता हूँ। वहाँ योगबल से इसका कारण खोजूँगा। यदि राजा से इसका सम्बन्ध होगा तो तत्काल राज-भवन को चलूँगा।

[दोनों का प्रस्थान।]

पहला पुरवासी—चलो, बन्धु, हम लोग भी चलकर देखें, इसमें क्या रहस्य निकलता है ?

दूसरा—अवश्य।

[दोनों का वसिष्ठ और ब्राह्मण के पीछे-पीछे प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—तीसरा पहर

[दालान में पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति है और दोनों ओर दो स्तंभ तथा स्तंभों के नीचे कुम्भी और ऊपर भरणी।

राम और लक्ष्मण टहलते हुए बातें कर रहे हैं ।]

राम—जब तुमने उसे मेरा सन्देश सुनाया, उसी समय वह आश्रम को चली गयी ?

लक्ष्मण—नहीं, महाराज, मेरे सामने वे नहीं गयीं, जब तक मैं खड़ा रहा, वे खड़ी रहीं । मैंने जब गंगा पार की और उस पार से देखा तब भी वे खड़ी हुई मेरी नौका को देख रही थीं, जब मैं रथारूढ़ हुआ तब भी वे खड़ी थीं और जब तक मार्ग के मोड़ पर मेरा रथ न घूम गया तब तक वे मुझे बराबर वहीं खड़ी दिखीं । महाराज, यह क्रूर हृदय लक्ष्मण ही वन में उन्हें अकेली तजकर चला आया, गर्भवती अवस्था में छोड़कर लौट आया, मुख मोड़कर भाग आया, हृदय पर पत्थर रखकर आ गया । पर, वे, आह ! वे तो अन्त तक मुझे वहीं खड़े-खड़े देखती रहीं । **(लक्ष्मण के अश्रुधारा बहती है ।)**

राम—**(लम्बी साँस ले)** हा !

लक्ष्मण—आपको उन्होंने सन्देश भी दिया है ।

राम—**(उत्सुकता से)** क्या, वत्स, क्या सन्देश दिया है ?

लक्ष्मण—मैंने उसे पत्र पर लिख लिया है । मैं उनके सन्देश को आपके सम्मुख जैसा का तैसा पढ़ूँगा, महाराज, उसका एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा निरन्तर जप करते रहने की वस्तु है ।

राम—पढ़ो, लक्ष्मण, पढ़ो, उसे भी यह हतभाग्य राम हृदय पर पत्थर रखकर सुनेगा ।

लक्ष्मण—**(एक भोज-पत्र पढ़ते हैं)** "नाथ ! आपके त्याग से

जो कष्ट मुझे हुआ और होगा उसका वर्णन मैं शब्दों में नहीं कर सकती। सच्चे भावों के पूर्ण प्रकाशन के लिए शब्द कभी यथेष्ट नहीं होते, फिर ऐसे अवसर पर न शब्द ही स्मरण आते हैं और न उनसे वाक्य-रचना ही हो सकती है। इस कष्ट के निवारण का सरल उपाय यही था कि मैं अपने प्राण दे देती, पर आपने मुझे ऐसे समय त्याग किया जब यदि मैं ऐसा करूं तो मुझे ही आत्म-हत्या और गर्भ-हत्या का पाप न लगेगा, पर आपके प्रति आपकी सन्तानोत्पत्ति के अपने कर्तव्य से भी मैं च्युत हो जाऊँगी, जो विश्व में मैं अपना सबसे बड़ा धर्म मानती हूं। लंका में आपके वियोग में आपके पुनः दर्शन की आशा पर मैं जीवित रही, अब मुझे वह अवलम्ब भी नहीं है। मेरे प्रयत्न करते रहने पर भी कि यदि मैं जीवित रह आपकी सन्तति की उत्पत्ति और उसका पोषण न कर सकूं, यदि इस वियोग के न सह सकने के कारण मेरी मृत्यु हो जावे, तो आप मुझे क्षमा करेंगे; आपके क्षमा न करने से तो न जाने मेरी क्या गति होगी।"

राम—(आँसू पोंछते हुए) आह! आह!

लक्ष्मण—(आँसू पोंछते हुए) "आर्यपुत्र, मैं जानती हूं कि आपको मेरे वियोग से दुःख होगा, पर मैं हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुःखी न हों। आप यह भी न विचारें कि मेरे दुःखों के कारण आप हैं। आपको मैं मनसा, वाचा और कर्मणा किसी प्रकार भी दोषी नहीं ठहराती। यह मेरे भाग्य का दोष है या मेरे पूर्व संचित पापों का फल है कि मुझे आपके वियोग का दुःख मिल रहा है, जिससे बड़ा संसार में मेरे लिए और कोई दुःख नहीं

हो सकता। इस दुःख में भी सबसे अधिक क्लेश मुझे इस बात का रहेगा कि आप मेरे लिए दुखी रहेंगे, इसलिए मैं फिर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुखी न हों।"

राम—(टहलते हुए) आह! लक्ष्मण, आह! मेरे ऐसे क्रूर काण्ड पर भी उसने मुझे दोष नहीं दिया, नहीं धिक्कारा?

लक्ष्मण—(गद्‌गद कण्ठ से) दोष देना और धिक्कारना कैसा, महाराज; उन्होंने तो इसके विपरीत अपने भाग्य को ही दोष दिया है, अपने कल्पित पापों को ही दोष दिया है।

राम—और उसने क्या कहा, बन्धु?

लक्ष्मण—उन्होंने इस प्रकार अपना सन्देश पूर्ण किया—"नाथ, आप मुझे भूलने का उद्योग कीजिएगा, क्योंकि दुःख में कर्तव्यों का ठीक पालन नहीं हो सकता। मैं आपके संग रहे हुए दिनों का स्मरण करते हुए, आपके स्वरूप का ध्यान और आपके नाम का जप करते-करते आपकी सन्तति का पोषण करने के लिए जीवित रहने का प्रयत्न करूँगी। जब मेरा अन्त समय उपस्थित होगा उस समय आपके पाद-पद्मों में चित्त रख मैं यही विनय करती हुई प्राणों को तजूँगी कि जन्म-जन्म मुझे आप ही पति प्राप्त हों।"

[इतना पढ़ते-पढ़ते लक्ष्मण का गला रुँध जाता है। राम के नेत्रों में फिर आँसू आ जाते हैं, और वे इधर-उधर टहलने लगते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। राम फिर धीरे-धीरे कहते हैं।]

राम—और भी कुछ वैदेही ने कहा, लक्ष्मण?

लक्ष्मण—(**धीरे-धीरे रुँधे हुए कण्ठ से**) आपके कहने को कुछ नहीं, महाराज, पर मुझे आपके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सदा सतर्क रहने के लिए बहुत-कुछ कहा है। मैं तो उन्हें सान्त्वना तक न दे सका, पर उन्होंने उल्टी मुझे सान्त्वना दी है।

राम—(**लम्बी साँस ले**) इतने में भी उसे मेरी चिन्ता है; इतनी चिन्ता, वत्स !

[**प्रतिहारी का प्रवेश।**]

प्रतिहारी—(**अभिवादन कर**) गुरुदेव पधारे हैं, श्रीमान् से भेंट करना चाहते हैं।

राम—(**सँभलकर**) उन्हें आदरपूर्वक भीतर भेज दो।

[**राम-लक्ष्मण दोनों, नेत्र पोंछ स्वस्थ होने का प्रयत्न करते हैं। वसिष्ठ का प्रवेश। राम, लक्ष्मण प्रणाम करते हैं। वसिष्ठ आशीर्वाद देते हैं।**]

वसिष्ठ—राज्य में एक घोर अधर्म हो रहा है, उसे तुम्हें निवारण करना है, राम।

राम—(**चौंककर और भी स्वस्थ हो**) अधर्म, भगवन् ! कैसा अधर्म ? मेरे कर्तव्य-च्युत होने से तो कोई अधर्म नहीं हो रहा, है, प्रभो ?

वसिष्ठ—नहीं, वत्स, नहीं, तुम्हारे सदृश कर्तव्यपरायण और प्रजारंजक कौन होगा, जिसने प्रजा-रंजन के लिए वैदेही-सदृश पत्नी तक का त्याग कर दिया।

राम—तब क्या है, देव ?

वसिष्ठ—आज प्रातःकाल एक ब्राह्मण-पुत्र की उसके माता-पिता के जीवित रहते हुए मृत्यु हो गयी, उसने मुझसे यह वृत्त कह इसका कारण पूछा, मैंने योग-बल से कारण का पता लगा लिया है, राम।

राम—अब तक तो राज्य में ऐसा कभी नहीं हुआ था, क्या कारण है, आर्य ?

वसिष्ठ—दण्डकारण्य में शम्बूक नामक एक शूद्र तप कर रहा है। दण्डकारण्य तुम्हारे राज्य में है। इस पाप से यह ब्राह्मण-पुत्र मरा है।

राम—(**आश्चर्य से**) तपस्या करना पाप हुआ, भगवन् ?

वसिष्ठ—धर्म और पाप की बड़ी गूढ़ व्यवस्था है। स्थान, काल और पात्र के अनुसार इनका स्वरूप निर्धारित होता है। इस काल में, इस राज्य में, शूद्र की तपस्या पाप ही है।

राम—तो क्या करना होगा, प्रभो ?

वसिष्ठ—तुम तत्काल दण्डकारण्य जाओ, शूद्रक उल्टा सिर किये हुए तप कर रहा है, उसे खोज लेना। या तो उसे तपस्या से विमुख करो, या उसका वध।

राम—(**आश्चर्य से**) तपस्वी का वध, देव ?

वसिष्ठ—हाँ, यही इस समय का धर्म है; विलम्ब नहीं, तत्काल।

राम—जैसी आज्ञा।

[राम और लक्ष्मण का वसिष्ठ को प्रणाम कर एक ओर,

और वसिष्ठ का आशीर्वाद दे दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।

पांचवां दृश्य

स्थान—दण्डक-वन

समय—सन्ध्या

[घना जंगल है। अस्त हुए सूर्य की सुनहरी किरणें वृक्षों के ऊपरी भागों पर पड़ रही हैं। एक वृक्ष से लटका और नीचे की ओर मुंह किये वृद्ध शम्बूक तप कर रहा है। जटा और दाढ़ी बढ़ गए हैं। शरीर जर्जर हो गया है। चार घोड़ों से जुता हुआ एक रथ आता है। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था। रथ पर राम और लक्ष्मण बैठे हैं। राम, लक्ष्मण शम्बूक को देख रथ से नीचे उतरते हैं।]

राम—(लक्ष्मण से) यही शम्बूक जान पड़ता है। यही दण्डकारण्य है। यहीं निकट ही पंचवटी है। यहीं अनेक वर्ष तुम्हारे और वैदेही के संग आनन्दपूर्वक निवास किया था। अब कहाँ वे दिन, लक्ष्मण? क्या कभी जीवन में फिर वैसे सुख के दिन आवेंगे? उस समय तो वे बड़े कष्टप्रद मालूम होते थे, अयोध्या-निवासियों के दुःख से हृदय विह्वल रहता था; पर वे ही दिन उत्तम थे, वे ही। वत्स, यह कर्तव्य सचमुच बड़ा विलक्षण है। अब तो जानकी के स्मरण और उस स्मरण से ही थोड़ी बहुत शक्ति पाने तक का अवकाश नहीं है।

लक्ष्मण—सदा ही देखता हूँ, महाराज!

राम—(शम्बूक के निकट जा) शम्बूक, तुम मुझे जानते हो ?

शम्बूक—(उसी स्थिति में ध्यानपूर्वक राम को देखते हुए) मैं तपोबल से सब-कुछ जानता हूं, राम।

राम—अच्छा, तब तो तुम यह भी जानते होगे कि मैं यहाँ क्यों आया हूँ ?

शम्बूक—हाँ, आर्य ब्राह्मणों की सत्ता बनाये रखने के लिए, मेरा वध करने।

राम—नहीं, नहीं, पहले तुमसे अनुरोध करने कि तुम इस मार्ग को छोड़ दो।

शम्बूक—हाँ, परन्तु यदि मैं न छोड़ूं ? तब तो तुम मेरा वध ही करोगे न ?

राम—तब वैसा करना मेरा कर्तव्य होगा।

शम्बूक—और अपना संकल्प न छोड़ना मेरा कर्तव्य है। सुनो, राम, मुझे ज्ञात है कि राज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र मरा है। मैं यह भी जानता हूं कि तुम्हारे ब्राह्मण-कुल-गुरु ने इसका कारण मेरी तपस्या बतलाया है, पर इसका यथार्थ कारण तुम्हारे राज्य की ब्राह्मण-सत्ता है। ब्राह्मण यह मानते हैं कि हम शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है। मैंने यह तप इसी मत के खण्डन के लिए किया है। यदि मेरे तप से कोई शूद्र का बालक मरता तो मेरे तप का कुफल हो सकता था, पर ब्राह्मण-बालक मरा इससे यह स्पष्ट हो गया कि वे ही भूल में हैं। परमात्मा उनको जता देना चाहते हैं कि उनके

द्वारा उत्पन्न किये हुए किसी भी व्यक्ति पर अत्याचार नहीं हो सकता। यदि ब्राह्मण किसी समुदाय विशेष को सदा नीच बनाये रखने का उद्योग करेंगे तो वह इसी प्रकार सिर उठावेगा। इससे उन्हीं का संहार होगा। वसिष्ठ ने यह तो अपने योगबल से जान लिया कि मेरे तप के कारण ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हुई, पर उन्होंने यह नहीं जाना कि इस प्रकार की मृत्युओं का निवारण मेरी अकेले की हत्या से न होकर उनके मत के परिवर्तन से ही सम्भव है। पर, राम, यह विवाद निरर्थक है। मैं योगबल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म में समाज की अनुचित मर्यादाएं भी न टूटेंगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोड़ने के लिए नहीं। मैं अपना संकल्प न छोड़ूँगा, तुम अपना काम करो, इस हत्या के पश्चात् भी मुझे तो मोक्ष ही मिलेगा।

[राम उसका भाषण सुन गहरे सोच में पड़ जाते हैं। इधर-उधर टहल एक ओर हट लक्ष्मण से कहते हैं।]

राम—यह सब कैसा रहस्य है, वत्स? मर्यादा का उल्लंघन सचमुच ही मेरे लिए असम्भव है। इस शूद्र के कथन में मैं गूढ़ सत्य देखता हूँ, पर फिर भी इसे इसी प्रकार छोड़, इस हत्या से विमुख होने में मुझे ऐसा भास होता है कि मेरा राज्य-कर्तव्य भंग हो रहा है, धर्म की मर्यादा टूट रही है। लक्ष्मण, लक्ष्मण, यह सब क्या है? ताड़का की स्त्री-हत्या करना इसलिए कर्तव्य था कि वह दुष्टा थी तथा ऋषियों को कष्ट देती थी, बालि का अधर्म से भी निधन करना इसलिए कर्तव्य था कि वह अधर्मी था, मित्र से उसके वध करने की मैं

प्रतिज्ञा कर चुका था और इस निःशस्त्र तपस्वी की हत्या ? आह ! यह इसलिए आवश्यक है कि शूद्र का तपस्या करना प्रचलित धर्म के विरुद्ध है, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व मैंने ग्रहण किया है ।

लक्ष्मण—हाँ, महाराज, ऐसी ही समस्या है ।

राम—ओह ! आज के समान संकल्प-विकल्प तो हृदय में कभी नहीं उठे । न जाने राम के हाथ से अभी क्या-क्या होना बदा है ? **(कुछ ठहरकर)** जो कुछ हो, धर्म की मर्यादा-रक्षा करना मेरा तो कर्तव्य है; चाहे यह तपस्वी हो अथवा निःशस्त्र । यह तपस्या नहीं छोड़ना चाहता, अतः इसे मारने के अतिरिक्त मेरे लिए और कौन मार्ग है ? कोई नहीं, लक्ष्मण, कोई नहीं । **(फिर शम्बूक के निकट जा)** फिर पूछता हूँ कि तप छोड़ना तुम्हें स्वीकार नहीं है ?

शम्बूक—कदापि नहीं ।

राम—सोच लो, अच्छी प्रकार विचार लो ।

शम्बूक—**(घृणा से मुसकराकर)** न जाने कितने काल से सोच और विचार लिया है ।

राम—**(लम्बी साँस ले)** अन्तिम निर्णय है ?

शम्बूक—अन्तिम, सर्वथा अन्तिम ।

राम—**(तलवार निकाल, आगे बढ़, शम्बूक पर प्रहार करते हुए)** आह ! लक्ष्मण, आह ! लक्ष्मण, यह कैसी विडम्बना है ? यह कैसा कर्तव्य है ?

यवनिका

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—तीसरा पहर

[दालान वही है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। राम और वसिष्ठ खड़े हुए बातें कर रहे हैं।]

वसिष्ठ—तब तो देव-ऋण से उऋण होना सम्भव नहीं दिखता, राम।

राम—जो कुछ भी हो, भगवन्, यदि बिना विवाह किये यज्ञ होना सम्भव नहीं है, तो मुझे नरक में पड़ने दीजिए। मनुष्य पर जो देवता, ऋषि, पितृ और मनुष्य इस प्रकार के चार ऋण रहते हैं, उनमें से विद्याध्ययन द्वारा ऋषि और जन-सेवा द्वारा मनुष्य-ऋण से तो मुक्त होने का मैंने प्रयत्न किया ही है। अब यदि बिना पुत्र के पितृ-ऋण और बिना यज्ञ के देव-ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता तो मुझे नरक में ही पड़ने दीजिए, देव।

वसिष्ठ—धन्य हो, राम, धन्य हो। तुम्हारा मैथिली पर सत्य प्रेम है। मैंने शास्त्र को देख लिया है। वैदेही की सुवर्ण मूर्ति के संग

तुम्हारा यज्ञ होगा। शास्त्र की मर्यादा इसमें भंग नहीं होती। एक पत्नीव्रत का जाज्वल्यमान उदाहरण भी तुम छोड़ जाओगे। मैं देखता था कि कहाँ तक तुम अपनी टेक पर रह सकते हो। हिमालय से ले समुद्र-पर्यन्त तुम्हारे राज्य की विजय-पताका अश्वमेध-यज्ञ में उड़ सकेगी। चलो, आज ही शुभ मुहूर्त्त है। आज से ही यज्ञ की तैयारी का आरम्भ किया जाय।

राम—(गद्गद होकर) आप सदृश कुल-गुरु को पाकर मेरा कौन-सा मनोरथ विफल रह सकता है, प्रभो?

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वाल्मीकि का आश्रम

समय—प्रातःकाल

[छोटी-छोटी कई कुटियाँ गंगा के किनारे बनी हैं। इनके चारों ओर फलों के वृक्ष दिखायी देते हैं जिन पर पुष्प-लताएँ चढ़ी हुई हैं। वृक्षों पर बन्दर और तोते तथा अनेक प्रकार के पक्षी दिखते हैं। इधर-उधर कई पालतू मृग और मोर दिखायी देते हैं। सारा दृश्य प्रातःकाल के प्रकाश से आलोकित है। कुटी के बाहर बीच में यज्ञ-वेदिका है। उसीके निकट सीता और बासन्ती बैठी हुई हैं। सीता बहुत क्षीणकाय हो गयी हैं। हाथों में चूड़ियों के अतिरिक्त और कोई आभूषण नहीं है। वल्कल-वस्त्र पहने हुए हैं। बासन्ती की अवस्था सीता से कुछ अधिक

है। वह भी गौर वर्ण है और उसकी वस्त्र-भूषा भी सीता के ही समान है। सीता गा रही हैं।]

तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि !
जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न ॥
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों
रहत निरंतर लोचनन-कौन।
'हा धुनि'-खगी लाज-पिंजरी महँ
राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ॥
जेहि बाटिका बसति तहँ खग-मृग
तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहुँ
तेहिमग पगु न धर्‌यो तिहुँ पौन ॥

सीता—(गान पूर्ण होने पर) आज पूरे बारह वर्ष हो गये। बासन्ती, आज ही के दिन लक्ष्मण मुझे भागीरथी के तीर पर छोड़कर गये थे। वह सारा दृश्य आज फिर नेत्रों के सम्मुख घूम रहा है। लक्ष्मण कैसे शोक-ग्रस्त थे, आर्यपुत्र के वियोग का भय मेरे हृदय को कैसा विदीर्ण कर रहा था, बार-बार मन में यह उठता था कि मैं उनके बिना प्राणों को कैसे रख सकूँगी, पर, सखि, बारह वर्ष हो चुके और ये अधम प्राण शरीर को अब भी नहीं छोड़ते। लंका में तो आर्यपुत्र के मिलने की आशा पर प्राण अवलम्बित थे, पर यहाँ तो

वह आशा भी नहीं है। सचमुच मनुष्य सारे कष्टों को सहन कर लेता है।

बासन्ती—तब यदि उनके मिलने की आशा अवलम्ब थी तो अब उनके चिन्ह ये कुश-लव अवलम्ब नहीं हैं? दोनों बालक कैसे हैं! रघुनाथजी के सदृश ही रूप, उन्हींके सदृश गुण, सब-कुछ उन्हीं-सा तो है।

सीता—पर, न जाने, बासन्ती, इन पुत्रों के भाग्य में क्या बदा है? चक्रवर्ती राजा के पुत्र होकर ये वन में उत्पन्न हुए, आश्रम में इनका लालन हुआ और भिक्षान्न से पालन।

बासन्ती—इसकी चिन्ता न करो, सीता, सुना नहीं कि तुम्हारी ही सुवर्ण-मूर्ति के संग महाराज यज्ञ करेंगे? अभी भी वे क्या तुम्हें भूले हैं, वैदेही?

सीता—यह तो मैं जानती हूँ, बासन्ती, वे मुझे क्षणमात्र को भी नहीं भूल सकते। मैं क्या उनके हृदय से परिचित नहीं हूँ? अयोध्या में, वन जाने के पूर्व और वन से लौटकर वे मुझे जिस प्रेम से रखते थे, वह क्या यह शरीर रहते मुझे विस्मृत हो सकता है? वन में तेरह वर्ष तक उन्होंने जिस प्रकार मुझे रखा वह स्मृति तो मेरी अक्षय-निधि है। अभी भी आठों पहर और चौसठों घड़ी में ही उनके हृदय में निवास करती होऊँगी, पर इन बालकों को तो वे तभी ग्रहण करेंगे जब उनके कर्तव्य में बाधा न पहुँचेगी।

बासन्ती—देखो, सखि, दोनों बालक महर्षि वाल्मीकि के संग यज्ञ में अयोध्या गये ही हैं। ज्ञात नहीं, क्यों बार-बार मेरे हृदय में

उठता है कि इस यज्ञ में कोई न कोई अद्‌भुत घटना अवश्य घटित होगी। अयोध्या में भी यह स्पष्ट हो जायगा कि ये कुश-लव रघुनाथजी के ही पुत्र हैं।

[वाल्मीकि का प्रवेश। वाल्मीकि अत्यन्त वृद्ध हैं। शरीर दुर्बल, किन्तु ऊँचा है। वर्ण साँवला और छोटी-छोटी श्वेत रंग की जटा तथा लम्बी दाढ़ी है। वस्त्र वल्कल के हैं। वाल्मीकि को देख सीता और बासन्ती दोनों खड़ी हो प्रणाम करती हैं।]

वाल्मीकि—(आशीर्वाद दे, सीता से) तेरे सारे दुःखों की समाप्ति का समय आ गया, पुत्री, राम के और तेरे त्याग ने सारे देश की प्रजा का हृदय द्रवीभूत कर दिया। जो प्रजा तेरे सम्बन्ध में अपवाद लिए बैठी थी, वही तेरे इन बारह वर्षों का जीवन-वृत्तान्त सुन, कुश और लव को ठीक राम के अनुरूप देख, अब यह चाहती है कि राम तेरी सुवर्ण-प्रतिमा के संग नहीं किन्तु प्रत्यक्ष तेरे संग बैठकर यज्ञ करें। मैं कुश और लव को अयोध्या में ही छोड़कर अभी वहाँ से लौट रहा हूँ। जिस मार्ग से वे बालक मेरी रामायण का गान करते हुए निकलते हैं, सहस्रों का जन-समुदाय इकट्ठा हो जाता है। राज-भवन में भी उन्होंने राम आदि को रामायण गाकर सुनायी है। अवध की प्रजा के झुण्डों के झुण्डों ने और देश-देश के माण्डलीक राजाओं ने, जो यज्ञ में अपनी प्रजा के मुख्य-मुख्य जनों के संग आये हैं, अपने प्रजा-जनों के सहित राम के पास जा-जाकर तेरे ग्रहण करने का अनुरोध किया है। हिमालय से समुद्र-पर्यन्त सारे देश के मनुष्य राम के संग तेरे दर्शन चाहते हैं; एक स्वर से अयोध्या में

यही ध्वनि निकल रही है। राम ने भी तुझे सहर्ष ग्रहण करना स्वीकार किया है और राजगुरु वसिष्ठ ने भी तेरे ग्रहण करने की अनुमति दे दी है। इसी कारण यज्ञारम्भ का मुहूर्त आगे बढ़ा दिया गया है। यज्ञ-शाला की पुण्य-भूमि में ही राम तुझे ग्रहण करेंगे। तुझे मेरे संग अयोध्या चलना है, पुत्री।

सीता—**(गद्गद हो)** प्रभो, क्या मैं जीवित हूँ? क्या जीवित अवस्था में, उसी शरीर के रहते, उन्हीं कानों से यह सम्वाद सुन रही हूँ! भगवन्, यह सब क्या सम्भव है? क्या मुझ मन्दभागिनी के भी दिन फिरे हैं? मेरे लिए भी क्या सुदिन आया है?

वाल्मीकि—हाँ, सतियों की आदर्श, पातिव्रत की मूर्तिवन्त मूर्ति, यह सब सत्य है। चल मेरे संग और राम को अपने पुण्यमय दर्शन दे तथा उनके पुण्यमय दर्शन कर। स्वयं राम का रथ तेरे लिए आया है।

वासन्ती—बधाई है, सखि, बधाई है, इस अभूतपूर्व दिवस, इस शुभ तिथि और इस पुण्यकाल के लिए।

[दोनों का प्रस्थान। दृश्य बदलता है]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या में सरयू-तट पर अश्वमेध-यज्ञ-शाला

समय—तीसरा पहर

[चारों ओर चन्दन के स्तंभ हैं। बीच में यज्ञवेदी बनी हुई है और इसके चारों ओर बैठने के स्थान बने हैं। यज्ञशाला

बन्दनवार, पताकाओं, कदली-वृक्षों आदि से सजायी गयी है। आकाश बादलों से आच्छादित है। कभी-कभी बादलों की गरज सुन पड़ती है और बिजली भी चमक जाती है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—वर्षा-ऋतु के बिना भी आज कैसा दुर्दिन हो गया है।

लक्ष्मण—कभी-कभी ऐसा हो जाता है, महाराज।

राम—(कुछ ठहरकर) अभी तो कार्यारम्भ में कुछ विलम्ब है, लक्ष्मण ?

लक्ष्मण—कुछ विलम्ब तो अवश्य है, पर बहुत नहीं, महाराज, यज्ञशाला का द्वार अभी नहीं खुला है। बाहर तो अपार जन-समुदाय है। द्वार खुलते ही सब भीतर आ जावेंगे। महर्षि वाल्मीकि का रथ आते ही द्वार खुल जायगा।

राम—बारह वर्ष बीत गये, लक्ष्मण, पर यह थोड़ा-सा समय बीतना कठिन हो रहा है।

लक्ष्मण—जब किसी भी कार्य के पूर्ण होने में थोड़ा-सा समय शेष रहता है तब उसका व्यतीत होना बड़ा कठिन हो जाता है।

राम—देखो, वत्स, अन्त में वही हुआ न जो मैंने कहा था। सारे देश की प्रजा के भावों में परिवर्तन हो गया। उस समय यदि वैदेही को न त्यागा होता तो यह सम्भव नहीं था। यह लोकमत बड़ी विलक्षण वस्तु है। अभी भी मैं जानकी को ग्रहण करने के पूर्व उससे शुद्धता की परीक्षा देने के लिए कहूँगा।

लक्ष्मण—(आश्चर्य से) पुनः परीक्षा, महाराज ?

राम—हाँ, लक्ष्मण, जिससे यदि थोड़ा-बहुत सन्देह लोगों के हृदय में रह गया हो तो वह भी दूर हो जावे। सन्देह के अवशेष का अवशेष भी बड़ा भयंकर होता है। अग्नि-कण के सदृश अथवा वर्षाकर मेघके नव-खण्ड के समान उसे फैलने में विलम्ब नहीं लगता। अब तो मुझे विश्वास हो गया है कि मैथिली के लिए उसके अद्भुत संयम के कारण किसी प्रकार की भी परीक्षा दे देना बाएँ हाथ का खेल है। **(पृथ्वी काँपती है। आश्चर्य से)** हैं! यह कंप कैसा! क्या भूकंप है?

लक्ष्मण—**(कुछ रुककर, इधर-उधर देख)** हाँ, महाराज, भूकम्प-सा ही जान पड़ता है।

राम—हाँ, हाँ, **(यज्ञशाला के काँपते हुए स्तंभों को देख)** यह देखो न, यज्ञशाला के स्तंभ काँप रहे हैं। **(बैठने के काँपते हुए स्थानों को देख)** आसन भी काँप रहे हैं। **(कंप एकाएक रुक जाता है।)**

लक्ष्मण—परन्तु, अब सब वस्तुएं पुनः स्थिर हो गयीं, महाराज। भूकंप ही था, अवश्य भूकंप।

राम—और यथेष्ट रूप में हुआ, वत्स।

लक्ष्मण—हिमालय की तराई और उसके निकट के इन स्थानों में, सुना जाता है कि अनेक बार भूकंप होते हैं, और यही कारण कदाचित् आज के इस दुर्दिन का हो।

[नेपथ्य में कोलाहल होता है।]

राम—लो, यज्ञशाला का द्वार खुल गया। महर्षि वाल्मीकि

आ गये होंगे, लोग भीतर आ रहे हैं ।

[वसिष्ठ, भरत, शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, जामवन्त, ऋषि, राजा, राज-कर्मचारी तथा प्रजा-जनों आदि का प्रवेश । राम और लक्ष्मण सबका स्वागत करते हैं । यज्ञवेदी के दक्षिण ओर ऋषि, वाम ओर नरेश तथा सामने प्रजा बैठती है । वेदी के निकट ही राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और वसिष्ठ बैठते हैं । प्रतिहारी का प्रवेश ।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) महर्षि वाल्मीकि महारानी और राजकुमारों के संग मण्डप में हैं । महर्षि ने कहा है कि जब सब लोग बैठ जायँ और महर्षि वसिष्ठ आज्ञा दें तब हमें सूचना देना, हम लोग भी आ जावेंगे ।

वसिष्ठ—(चारों ओर देखकर) हाँ, सब लोग यथास्थान बैठ गये हैं । महर्षि वाल्मीकि को मैं ही चलकर लाता हूँ ।

[वसिष्ठ का प्रस्थान और वाल्मीकि, सीता तथा कुश-लव के संग पुनः प्रवेश । सीता अपने वल्कल वस्त्रों में ही अवनत मुख से आती हैं । कुश-लव ब्रह्मचारियों के वेश में हैं और रामायण गा रहे हैं । सीता का क्षीण शरीर और वेश देख राम सिर झुका लेते हैं । लक्ष्मण आदि अनेक लोगों के नेत्रों से अश्रुधारा बह चलती है ।

कुश-लव—

मंजु विलोचन मोचत बारी ।
बोली देख राम महतारी ॥

तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।
सासु-ससुर-परिजनहिं पियारी ॥
मैं पुनि पुत्र-वधू प्रिय पाई ।
रूप-राशि गुण सील सुहाई ॥
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई ।
राखेहु प्रान जानकिहिं लाई ॥
पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा ।
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा ॥
जिवन मूरि जिमि जुगवत रहऊँ ।
दीप बाति नहिं टारन कहऊँ ॥
बन हित कोल किरात किसोरी ।
रची विरंचि विषय सुख भोरी ॥
पाहन कृमि जिमि कठिन स्वभाऊ ।
तिनहिं कलेस न कानन काऊ ॥
कै तापस तिय कानन जोगू ।
जिन तप हेतु तजा सब भोगू ॥
सिय बन बसहिं तात केहि भाँती।
चित्र लिखे कपि देखि डराती ॥

[कुछ देर पश्चात् वाल्मीकि के संकेत से कुश-लव गान बन्द कर एक ओर बैठ जाते हैं। वाल्मीकि कहते हैं।]

वाल्मीकि—राम-राज्य के निवासियो ! आप लोगों की इच्छानुसार मैं इस सती-शिरोमणि भगवती सीता देवी को पुनः आपकी

राजधानी में ले आया हूँ। भारतवर्ष में ही क्या सारे संसार में आज तक किसीका ऐसा उज्ज्वल और कलंक-रहित चरित्र नहीं रहा है जैसा महारानी सीता का है। रावण के सदृश पराक्रमी राजा के यहाँ असहाय रहने पर भी इन्होंने अपने सतीत्व की रक्षा की। अपनी शुद्धता का प्रमाण देने, अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी सहर्ष प्रस्तुत हो गयीं। इतने पर भी जब आप लोगों का विश्वास नहीं हुआ, तब पूरे एक युग तक इन्होंने वन में कठिन तप किया। ये तो आजन्म तप करतीं, परन्तु आप ही के अनुरोध से पुनः अयोध्या में आयी हैं। कहिए, आप अपने राजा की अनुमति देते हैं कि वे कृत-कार्य राजा पुनः अपनी शुद्ध और अद्वितीय अर्द्धांगिनी को ग्रहण कर पूर्णांग एवं धन्य हों?

[ज़ोर से "अवश्य ग्रहण करें", "अवश्य ग्रहण करें" शब्द होते हैं।]

वसिष्ठ—राम, वैदेही को पुनः ग्रहण कर अपना जन्म सफल करो।

राम—(गद्गद कण्ठ से) महर्षियो! नरेशो! और बन्धुओ! मुझे वैदेही के चरित्र पर कभी सन्देह नहीं था; सर्व-साधारण के विश्वासार्थ ही मैंने लंका में इनकी परीक्षा ली थी और यहाँ आने के पश्चात् भी प्रजा के रंजनार्थ ही मैंने इनका त्याग किया था, क्योंकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो राजा प्रजा की इच्छानुकूल अपने कार्य नहीं करता वह कर्तव्य-च्युत है और नरक का अधिकारी होता है। कई दिनों से आज मुझे यह देखकर असीम आनन्द हो रहा

था कि देश की सारी प्रजा एक स्वर से मुझसे पुनः मैथिली के ग्रहण करने का अनुरोध कर रही है। इस अनुरोध की उत्कटता इस समय और स्पष्ट हो गयी, फिर भी यह और उत्तम होगा यदि आप सबके सम्मुख एक बार पुनः मैथिली अपनी शुद्धता का कोई न कोई प्रमाण दे देवें।

सीता—(दृढ़ता से) अभी भी मेरी शुद्धता के प्रमाण की आवश्यकता है, आर्यपुत्र ? **(कुछ रुककर)** आह ! आह ! **(फिर कुछ ठहर पृथ्वी को सम्बोधित कर)** अब तो सहन नहीं होता, जननी, **(फिर कुछ रुककर आर्त स्वर में)** यदि मैंने जीवन में कभी भी मनसा, वाचा और कर्मणा किसी पर-पुरुष का चिन्तन तक न किया हो तो तू फट जा, माँ, और अब तो मुझे अपनी गोद में ही स्थान दे दे।

[ज़ोर से भूकम्प होता है। सीता के सम्मुख पृथ्वी फटती है और सीता उसमें समा जाती है। इधर-उधर और भी कुछ दरारें होती हैं, पर अन्य कोई हानि नहीं होती]

राम—वैदेही ! वैदेही ! यह क्या ! यह क्या !

उपस्थित जन-समुदाय—हैं, हैं, हैं, हैं ! भूकम्प ! भूकम्प !

[कोलाहल और हाहाकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—प्रातःकाल

[वही मार्ग है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। चार पुरवासियों का प्रवेश।]

एक--राम-राज्य को अनेक वर्ष बीत गये, बन्धुओ।

दूसरा--अनेक।

पहला--परन्तु, सीता देवी के पृथ्वी-प्रवेश के पश्चात् वह उत्साह और आनन्द दृष्टिगोचर नहीं होता।

तीसरा--इसमें सन्देह नहीं; यद्यपि राम-राज्य वैसा ही सुखद है, तथापि शिथिलता और निस्तेजता-सी छायी रहती है।

चौथा--और यज्ञ में भी क्या वह आनन्द आया था जिसकी आशा थी?

पहला--सती की महिमा ही अद्भुत होती है। सीता देवी के पश्चात् वह आनंद रह ही कैसे सकता था? कभी कहने से पृथ्वी फटती हुई देखना तो दूर रहा, सुना और पढ़ा भी न था।

दूसरा--हाँ, बन्धु, अद्भुत बात हुई। किन्तु, उसके कुछ समय पूर्व भी पृथ्वी काँपी थी।

तीसरा--उसके पश्चात् तो नहीं काँपी? और, उनकी आज्ञा से ही पृथ्वी फटी। इसी प्रकार वे अग्नि में प्रवेश कर जीवित निकल आयी होंगी जिस पर हमें विश्वास ही नहीं होता।

चौथा--राम और सीता दोनों ही अद्भुत निकले। सूर्यवंश में ही क्या संसार में कहीं भी ऐसे नर-नारी का वर्णन नहीं सुना।

पहला--जिन्हें भगवान् का अवतार कहा जाता है, ये वे हैं। अवध में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ने अवतार लिया है और शक्ति

ने मिथिला में लिया था। एक को हमने अपनी दुर्बुद्धि से खो दिया। उस दिन के पहले तक, जब सीता देवी पृथ्वी में समायीं, सबके सन्देह थोड़े ही दूर हुए थे।

तीसरा—हाँ, हाँ, राम तो साक्षात् अन्तर्यामी हैं, सबके हृदय की बात समझते हैं; इसीलिए उन्होंने पुनः सीता देवी को शुद्धता का प्रमाण देने के लिए कहा।

चौथा—मैं तो अपने ही मन की बात कहता हूँ, मेरे हृदय तक में सन्देह बना था।

पहला—सन्देह बड़ी बुरी व्याधि है, बन्धु, सीता देवी मरकर ही इसका मूलोच्छेदन कर सकीं।

चौथा—सुना है, रघुनाथजी ने भी सारा राज्य अपने और भ्राताओं के पुत्रों में बाँट दिया है। अब वे भी वानप्रस्थ लेने की तैयारी कर रहे हैं।

पहला—अयोध्या के अब वे दिन कदाचित् न लौटेंगे।

तीसरा—**(कुछ ठहरकर)** तो फिर चलें न, रघुनाथजी के दर्शन का समय हो गया।

सब—**(एक साथ)** हाँ, हाँ, चलना चाहिए।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पांचवां दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। इतना ही अन्तर है कि दाहनी ओर एक खिड़की बना दी गयी है। राम और लक्ष्मण खड़े हुए हैं। राम दाहनी ओर की खिड़की में से बाहर की ओर देख रहे हैं। दोनों के बाल श्वेत हो गये हैं और मुखों पर झुर्रियाँ दिखायी देती हैं। दोनों वृद्ध दिखते हैं।]

राम—देखते हो, लक्ष्मण, कितनी भीड़ जमा है। नित्यप्रति यह भीड़ बढ़ती ही जाती है।

लक्ष्मण—कई लोगों का व्रत है, महाराज, जब तक प्रातःकाल वे आपके दर्शन नहीं कर लेते तब तक भोजन नहीं करते।

राम—हाँ, वत्स, पहले मैं झूठा था। वैदेही को अत्यधिक चाहता था, यही मेरा दोष था। इसी कारण प्रजा समझती थी कि मैंने झूठ फैलाया है कि वह अपनी शुद्धता का प्रमाण देने अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी प्रस्तुत थी। अब मैं परब्रह्म परमात्मा का अवतार हो गया हूँ, क्योंकि प्रजा की इच्छा के अनुसार मैंने सब कुछ किया; अपने सर्वस्व की आहुति दे दी। यह मनुष्य-हृदय ही विलक्षण वस्तु है!

लक्ष्मण—इसमें सन्देह नहीं, महाराज, आप अपना सर्वस्व खोकर ही यह पद पा सके।

राम—पर, लक्ष्मण, मेरे हृदय को फिर भी सुख नहीं है; वैदेही के स्मरण की भभकती हुई अग्नि तथा जो पृथ्वी मेरे देखते-देखते उसे निगल गयी उसी पृथ्वी की जो मुझे रक्षा करनी पड़ रही है, यह मेरी कृति, सदा मेरे हृदय को जलाया करती है। अब तो राज्य भी

बाँट दिया है, वत्स, अब जीवित रहने की इच्छा नहीं है; इस जन्म में मुझे सुख न मिल सकेगा।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) श्रीमान्, एक मुनि आये हैं; अपने को अतिबल का दूत बतलाते हैं; महाराज से भेंट करना चाहते हैं।

राम—उन्हें आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान। मुनि के संग फिर प्रवेश। मुनि को छोड़ फिर प्रस्थान। राम और लक्ष्मण मुनि को प्रणाम करते हैं और वे आशीर्वाद में केवल हाथ उठा देते हैं।]

मुनि—राम, मुझे एकान्त में आपसे बातचीत करना है।

राम—जो आज्ञा, प्रभो।

मुनि—परन्तु, इसके पूर्व आपको एक प्रतिज्ञा करनी होगी।

राम—वह क्या, भगवन्?

मुनि—यदि उस वार्तालाप में कोई आवेगा तो उसका आपको वध करना होगा। मैं दूर, अत्यन्त दूर से आया हूँ। मेरी यह याचना, आशा है, आप अवश्य पूर्ण करेंगे; आपके वंश में किसी याचक को कभी विमुख कर नहीं लौटाया गया।

राम—परन्तु, आर्य, यह प्रतिज्ञा तो बड़ी भयानक प्रतिज्ञा है।

[मुनि राम के कान में धीरे-धीरे कुछ कहते हैं।]

राम—अच्छी बात है। ऐसा ही हो, देव। पधारिए भीतर।

(लक्ष्मण से) लक्ष्मण, तुम्हीं बाहर चले जाओ, देखते रहो, मेरे कक्ष में कोई न आवे।

लक्ष्मण—जो आज्ञा।

[राम पुनः खिड़की से बाहर की ओर देख, हाथ जोड़ प्रणाम करते हैं। फिर वे आगन्तुक मुनि के संग एक ओर तथा लक्ष्मण दूसरी ओर जाते हैं। परदा गिरता है।]

छठवां दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—तीसरा पहर

[वही मार्ग है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। बादलों की गरज सुन पड़ती है और रह-रहकर बिजली चमकती है। वायु के वेग से चलने के कारण उसका शब्द भी सुनायी देता है। एक नगरवासी का एक ओर से और कई का दूसरी ओर से दौड़ते हुए प्रवेश। वायु के वेग के कारण उनके वस्त्र उड़ रहे हैं।]

पहला—कहाँ जा रहे हो, बन्धुओ, कहाँ जा रहे हो?

कई व्यक्ति—ड्योढ़ी पर, ड्योढ़ी पर।

पहला—किस लिए?

कई व्यक्ति—तुमने नहीं सुना, नगर में फैल रहा है कि महाराज ने लक्ष्मण को त्याग दिया और उन्होंने सरयू में जाकर योगबल से अपना शरीर........। **(गला भर जाता है।)**

दूसरा—(**रुँधे कण्ठ से**) इसीका पता लगाने जा रहे हैं कि क्या यह सच है।

पहला—(**रोते हुए**) मैं वहीं से आया हूँ, सत्य है।

[उसकी बात सुन सब रो पड़ते हैं।]

एक अन्य व्यक्ति—(**रुँधे गले से**) कारण क्या हुआ?

पहला—हम अवध के लोगों का मन्दभाग्य कारण है, और क्या?

वही पहलेवाला—फिर भी कोई कारण तो होगा। महाराज को लक्ष्मण अत्यन्त प्रिय थे, प्राणों से अधिक प्रिय। लक्ष्मण ने उनके लिए क्या नहीं किया? चौदह वर्ष माता और पत्नी को छोड़ वन में रहे। सदा उनकी आज्ञा का पालन किया। ऐसी आज्ञा-पालन कौन......................।

पहला—पर, इससे क्या, बन्धु, भगवान् रामचन्द्र के लिए तो सर्व-प्रथम उनका कर्तव्य है।

वही—पर, लक्ष्मण को त्याग देने का कर्तव्य कहाँ से आ पहुँचा?

पहला—(**धीरे-धीरे, रुक-रुककर कहता है**) बात यह हुई कि कोई मुनि महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उन्होंने महाराज से प्रतिज्ञा करायी थी कि हम दोनों की बातचीत के बीच में यदि कोई आ गया तो आपको उसका वध करना होगा। महाराज प्रतिज्ञा कर और स्वयं लक्ष्मण को द्वारपाल का काम सौंप, क्योंकि बड़े महत्व की बात थी, किसी मनुष्य के प्राण न चले जायँ यह विषय था, मुनि से वार्ता-

लाप करने भीतर गये । इतने में दुर्वासा आ पहुँचे । उन्हें भी महाराज के दर्शन की इतनी शीघ्रता थी कि उन्होंने लक्ष्मण की बात तक न सुनी और कहा कि या तो तत्काल महाराज को मेरे आगमन की सूचना दो या मैं सारे वंश को शाप देता हूँ । लक्ष्मण को, और कोई उपाय न देख भीतर जाना पड़ा । महाराज की प्रतिज्ञा तो महाराज की प्रतिज्ञा ही ठहरी । वसिष्ठ बुलाये गये । उन्होंने व्यवस्था दी कि बन्धु का त्याग ही वध है, पर महाराज को छोड़ लक्ष्मण क्यों जीवित रहने लगे, फिर उन्हें तो महाराज की प्रतिज्ञा अक्षरशः सत्य करनी थी । उन्होंने सरयू पर जाकर योगबल से शरीर त्याग दिया । हाय ! अयोध्यावासियों का भाग्य फूट गया ?

[वह रोने लगता है और सभी के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है । जिस ओर से पहला व्यक्ति आया था उसी ओर से एक व्यक्ति का और दौड़ते हुए प्रवेश ।]

आगन्तुक—(रुँधे गले से) अरे ! अरे ! और अनर्थ हुआ, और अनर्थ हुआ ! उर्मिला देवी ने लक्ष्मण के संग सती होने का निश्चय किया है ।

पहला—(गद्‌गद् कण्ठ से) अब अयोध्या पूर्ण श्मशान बनकर ही रहेगी । **(और अधिक रोने लगता है ।)**

एक अन्य व्यक्ति—(रुँधे कण्ठ से) चलो, बन्धुओ, हम सब भी श्मशान को चलें ।

कुछ व्यक्ति—(एक साथ) हाँ, वहां तो चलना ही है ।

एक व्यक्ति—(रुँधे कण्ठ से) संसार में वहीं तक का तो साथ है।

[सबका प्रस्थान। परदा उठता है।]

सातवां दृश्य

स्थान—सरयू के तट की श्मशान-भूमि

समय—सन्ध्या

[निकट ही सरयू बह रही है। सरयू के दोनों तटों पर वृक्ष हैं। उस ओर के तट से कुछ दूर बसी हुई अयोध्या दिखायी देती है। अयोध्या के पीछे की ओर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ दिख पड़ती हैं। आकाश बादलों से छाया हुआ है। रह-रहकर बिजली चमकती है और बीच-बीच में बादलों की गरज भी सुनायी देती है। वायु वेग से चल रही है और इसका भी शब्द हो रहा है। इस तट पर पानी के निकट ही लक्ष्मण की चिता है। राम अपने दोनों अनुज और वसिष्ठ आदि के संग शोक से सिर झुकाये हुए चिता के निकट खड़े हैं। उनके चारों ओर जन-समुदाय है। वायु-वेग के कारण सबके वस्त्र उड़ रहे हैं। सभी शोक से विह्वल हैं। इस जन-समुदाय में हाहाकार मचा हुआ है। वाद्य बजता है। अनेक स्त्रियों के संग सौभाग्यवती स्त्री के सदृश शृंगार किये उर्मिला का प्रवेश। उर्मिला आगे बढ़ राम एवं भरत और वसिष्ठ के चरण-स्पर्श कर चिता पर बैठ जाती है। उर्मिला के द्वारा चरण-स्पर्श होते ही अपने को

संभालने और हृदय के उद्वेग को रोकने का प्रयत्न करने पर भी, जो उनकी मुद्रा से जान पड़ता है, राम के नेत्रों से आँसू निकल पड़ते हैं।

वसिष्ठ—शोक नहीं, राम, शोक नहीं। तुमने तो संसार के सम्मुख मनुष्य-जीवन का ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जैसा आज-पर्यन्त किसीने नहीं किया। कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोड़ा, परम प्रिय सती-साध्वी पत्नी का चिरवियोग सहा और अन्त में प्राणों से प्यारे भ्राता को भी खो दिया। अगणित स्वार्थों को त्याग तुमने प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है। राम, राम-राज्य के समान राज्य कभी नहीं हुआ, जिसमें प्रजा को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई भी क्लेश कभी नहीं पहुँचा। तुम्हारे इसी कर्तव्य-पालन के कारण हिमालय से ले रामेश्वर-पर्यन्त और पूर्व समुद्र से ले पश्चिमी समुद्र तक की सारी पृथ्वी पर एक स्वर से भगवान् के समान तुम्हारा जयघोष हो रहा है, तुम्हारे भ्राताओं का हो रहा है। तुम्हारे वंश का हो रहा है। जहाँ तुम जाते हो वहाँ की पृथ्वी पुष्प, चन्दन-चूर्ण और खीलों की वर्षा से ढक जाती है। इतिहास में तुम्हारा चरित्र सदा दूसरे सूर्य के समान तेजस्विता के संग चमकता हुआ संसार को आलोकित रखेगा। लक्ष्मण शोक के योग्य नहीं है, राम, उनका यह शरीर, जो नाशवान है, चाहे न रहा हो, परन्तु उनकी कीर्ति सदा के लिए भूमण्डल में स्थिर रहेगी। राम, तुम्हारा शोक करना शोभा-जनक नहीं है, तुम शोक करते हो, राम, तुम शोक!

राम—प्रभो, मैंने लक्ष्मण के अतिरिक्त किसीके सम्मुख आज

तक अपना शोक प्रकट नहीं किया, परन्तु आज उनके न रहने पर यह शोक प्रकट हो गया। मेरे निज का संसार न रहने से आज यह इस संसार के सामने आ गया है। मेरे सम्बन्ध में आपने जो कहा वह ठीक हो सकता है, देव, परन्तु मैंने यह सब स्वयं को खोकर पाया है। ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि अब तक मेरे मन में है, बालि को अधर्म से मारने की लज्जा से अब तक मेरा हृदय लज्जित है, निःशस्त्र और निर्दोष शम्बूक के वध से अब तक मेरा अन्तःकरण व्यथित है; फिर पिता की मृत्यु का मैं ही कारण हूँ, पत्नी को मेरे कारण क्लेश भोगना पड़ा, अन्त में इस भ्राता ने भी, कैसे भ्राता ने, प्रभो, जैसा भ्राता आज-पर्यन्त किसीने नहीं पाया था, मेरे ही कारण अपने प्राण त्याग किये, मेरी कृति के ही फलस्वरूप यह वधू उर्मिला मेरे सम्मुख, मेरे जीवित रहते, सती होने जा रही है। आर्य, मैं समझता था कि कर्तव्य-पालन से संसार को सुखी करने के संग मनुष्य स्वयं भी सुखी होता है, पर नहीं, यह मेरा भ्रम ही निकला, मैं तो सदा दुःख से ही परिवेष्टित रहा, भगवन्।

वसिष्ठ—कर्तव्य-पालन से स्वयं को सुख की प्राप्ति होती है, राम, अवश्य होती है और वह सुख अनन्त होता है, पर जब तक कर्म के सुफल और कुफल का प्रभाव हृदय पर पड़ता है तब तक वह सुख नहीं मिल सकता। निष्काम कर्म कह देना बहुत सरल है, पर इस स्थिति का अनुभव एक जन्म में नहीं, अनेक जन्म के पश्चात् विरला मनुष्य ही कर सकता है; वही जीवन-मुक्त की अवस्था है; वहाँ द्वन्द्व नहीं रह जाता, वहाँ मनुष्य स्वयं और सकल विश्व में

भिन्नता का नहीं, किन्तु अभिन्नता का अनुभव करता है । जीवन रहते कर्म करना ही पड़ता है, अतः इस जीवन-मुक्त अवस्था में ऐसे व्यक्ति से विश्व के कल्याणकारी कृत्य आपसे आप होते रहते हैं और इनको करने में ही उसे सुख मिल जाता है । पर लो, राम, इस समय तो इस समय के कर्तव्य का पालन करो । लक्ष्मण के पुत्र यहाँ नहीं हैं, अतः शास्त्रानुसार ज्येष्ठ अथवा लघु भ्राता ही अग्नि-संस्कार कर सकता है । तुम्हें और शत्रुघ्न को ही यह अधिकार है, अतः लो इस समय का कर्तव्य पूर्ण करो ।

राम—यह भी करना होगा, भगवन्, यह भी ? पर, नहीं प्रभो, नहीं, शत्रुघ्न ही यह करें । अब तो सहा नहीं जाता, देव, असह्य हो चुका । इस क्षीण देह और भग्न-हृदय पर यह अन्तिम चोट थी । **(दोनों हाथों से हृदय को सँभालते हुए)** हृदय में अत्यन्त पीड़ा हो रही है, प्रभो, अत्यन्त । **(सामने देख चौंकते हुए)** ठहरिए, ठहरिए; देखिए, देखिए, वह सामने कौन है ? देखिए, आर्य, वह सामने से कौन मुझे बुला रहा है ? आप कहते हैं न कि कर्तव्य-पालन से अनन्त सुख की प्राप्ति एक जन्म में न होकर अनेक जन्म में होती है, आप कहते हैं न कि कर्म के सुफल और कुफल के प्रभाव का हृदय पर पड़ना एक जन्म में नहीं अनेक जन्म के पश्चात् मिटता है; देखिए, देखिए, वह कहता है कि इस जन्म का मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका । वह मुझे शीघ्र, शीघ्रातिशीघ्र बुला रहा है । अब मेरा भी यहाँ क्या रह गया है ? अन्तिम अवलंब लक्ष्मण भी चले गये, देव, मैं भी क्यों यह दुःसह दुःख सहता रहूँ ? जाता हूँ, जाता हूँ,

भगवन्, पति के संग स्त्री ही सती न होगी, भ्राता का शव भी भ्राता के संग ही जलेगा।

[राम दोनों हाथों से हृदय मसोसते हुए नेत्र बन्द कर लेते हैं। उनका मृत शरीर वसिष्ठ की भुजाओं में गिर पड़ता है। हाहाकार होता है। वर्षा आरम्भ होती है और वायु का वेग बढ़ता है। एकाएक ज़ोर से पृथ्वी काँपने लगती है।]

वसिष्ठ—हैं! भूकम्प! भूकम्प!

एक मनुष्य—हाँ, भारी, भारी भूकम्प है।

[सरयू के तटों के वृक्ष ज़ोर से काँपते हैं। उस पार बसी हुई अयोध्या के गृह ज़ोर-ज़ोर से गिरते हैं। श्मशान में खड़े हुए जन-समुदाय में कोलाहल मचता है। दूर से भी कोलाहल सुन पड़ता है। अनेक व्यक्ति भागते हैं। अनेक भागते हुए व्यक्ति पृथ्वी के काँपने से गिर पड़ते हैं।]

वसिष्ठ—(राम के शव को लिये हुए ही चिल्लाकर) ठहरो, ठहरो, पहले राजा का अग्नि-संस्कार करना होगा।

एक मनुष्य—(चिल्लाकर) किसका अग्नि-संस्कार कौन करेगा! जान पड़ता है, सारे अयोध्या के निवासी राजा के संग ही स्वर्गारोहण करेंगे।

[कोलाहल बढ़ता है। पृथ्वी पर अनेक दरारें फटती हैं। उनसे पानी निकलता है। अनेक व्यक्ति उन दरारों में समाते हैं। राम का शव लिये हुए वसिष्ठ तथा भरत और शत्रुघ्न भी पृथ्वी की एक दरार में समा जाते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण की

चिता भी पृथ्वी की एक दरार में समाती है। सरयू के उस ओर अयोध्या की बस्ती के परे की पहाड़ियों से अग्नि और धूम निकलता है। भीषण कोलाहल।]

यवनिका

उत्तरार्द्ध

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल में यमुना-तट

समय—उष:काल

[पूर्वाकाश में प्रकाश फैल रहा है जिसकी द्युति यमुना के नीर में पड़ रही है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं। वृक्षों की एक झुरमुट में बैठ कृष्ण मुरली बजा रहे हैं। कृष्ण लगभग ग्यारह वर्ष के अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। वर्ण साँवला है। कटि के नीचे पीत अधोवस्त्र और गले में उसी प्रकार का उत्तरीय है। लंबे केशों का सामने जूड़ा बँधा है जिस पर मोर-पंख लगा है। ललाट पर केशर का तिलक है, कानों में गुंज के मकराकृत कुण्डल, गले में गुंज के हार, भुजाओं पर उसीके केयूर और हाथों में उसी के वलय हैं। गले में पुष्पों की वैजयन्ती माला भी है। राधा का प्रवेश। राधा भी लगभग ग्यारह वर्ष की गौर-वर्ण की परम सुन्दर बालिका हैं। नील रंग की साड़ी और वक्षस्थल पर उसी रंग का वस्त्र बँधा है। गुंज के आभूषण पहने हैं। मस्तक पर इंगुर की टिकली और पैर में महावर है। कृष्ण राधा को देख मुरली बन्द कर देते हैं।]

राधा—बजाओ, कृष्ण, बजाओ; कम से कम आज, अन्तिम बार यह वंशी-ध्वनि और सुन लूँ; फिर न जाने जीवन में कभी यह सुनने को मिलती है या नहीं। जब कोई भी नवीन बात होती है तभी यह बजती है, चाहे वह बात सुखमय हो या दुःखमय। आज जब व्रज को छोड़कर जा रहे हो तब भी भला यह क्यों न बजे? प्राण जायँगे तो पीछे रहनेवालों के जायँगे।

कृष्ण—(मुसकराकर) ओहो! राधा, आज तो तुमने बड़ा गम्भीर भाषण दे डाला।

राधा—इससे अधिक गंभीरता का और कौन-सा अवसर होगा? कल संध्या को जबसे यह सुना कि तुम्हें राजा कंस ने धनुष-यज्ञ के लिए बुलाया है और अक्रूर, अक्रूर क्यों क्रूर, तुम्हें लेने आया है, तबसे तुम्हारा सारा चरित्र नेत्रों के सम्मुख घूम रहा है। न जाने क्यों यह भासता है कि अब फिर ये दिन न फिरेंगे। व्रज में फिर यह वंशी-ध्वनि न सुन पड़ेगी। फिर न ये दिवस आयँगे और न ये रातें, न ये उषःकाल और न ये संध्याएँ। यह सुख सदा को चला जायगा, पर तुम्हें इससे क्या, सखे?—तुम्हारी आनन्द की वंशी तो हर स्थान और हर काल में बजती ही रहेगी।

कृष्ण—(मुसकरा कर) पर, सखि, यदि मैं वंशी न भी बजा, अन्य बालकों के समान, जाते समय रोऊँ तो क्या होगा? जाना तो होगा न? मेरे रोने से जाना क्या रुक जायगा? लोग कहते हैं कि मेरे पिता नन्द और यशोदा नहीं, किन्तु मथुरा के कारागृह में पड़े हुए वसुदेव और देवकी हैं। मेरी जन्म-भूमि मथुरा है। पर, तुमने

कभी मुझे उनका या मथुरा का स्मरण करते देखा ? फिर नन्द, यशोदा और व्रज छोड़ने में ही मैं क्यों दुःख करूँ ?

राधा—पर, सखे, वसुदेव और देवकी को तुमने देखा नहीं, मथुरा तुम गये नहीं, नन्द-यशोदा की गोद में खेले हो, व्रज में लाले-पाले गये हो।

कृष्ण—इससे क्या, राधा ? जिन्होंने कभी अपने माता-पिता को नहीं देखा होता, वे भी यदि सुनते हैं कि उनके माता-पिता कहीं हैं और कष्ट में हैं, तो वे माता-पिता की कल्पना और उनके कष्ट के विचार से ही रो देते हैं। जन्म-भूमि के स्मरण-मात्र से उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। पर, न जाने क्यों, सखि, मुझे तो कभी रोना आता ही नहीं। जबसे मुझे सुधि है किसी वस्तु में भी मुझे इतनी आसक्ति नहीं जान पड़ती कि उसे छोड़ने में मुझे क्लेश हो।

राधा—तुम महा निर्मोही हो, महा निष्ठुर हो, कृष्ण, तुम्हारे हृदय नहीं, पत्थर है।

कृष्ण—यदि आसक्ति न रहने के कारण मनुष्य हृदयहीन कहा जा सकता है, तो तुम मुझे ऐसा कह सकती हो, पर मैं तो अपने को ऐसा नहीं मानता, राधा। क्या मैं हरेक को सुख पहुँचाने का सदा उद्योग नहीं करता ? मेरी अवस्था का कोई बालक ऐसा करता है ? परन्तु हाँ, इन सब कृत्यों के करने ही में मुझे सुख मिल जाता है; इनमें मेरी आसक्ति नहीं है; फल की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं जाती। फिर मैं देखता हूँ कि जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं, जो

निसर्ग से प्रेरित जान पड़ती हैं; मनुष्य यदि चाहे तो भी उन्हें नहीं रोक सकता; कभी-कभी वह रोकने का प्रयत्न करता है और उल्टा दु:ख पाता है, एवं वह कार्य भी नहीं रुकता। मेरा मथुरा-गमन भी मुझे ऐसा ही भासता है; अतः मैं उसके आड़े नहीं आना चाहता।

राधा—तुम्हारी सारी बातें कभी मेरी समझ में नहीं आतीं, पर, हाँ, कुछ-कुछ समझ लेती हूँ। इतना मैं जानती हूँ कि तुम हम लोगों पर उतना प्रेम नहीं करते जितना हम तुम पर करते हैं।

कृष्ण—यह नहीं है, राधा, तुम लोग किसी पर अधिक प्रेम करते हो, किसी पर कम और किसी पर सर्वथा नहीं, वरन् किसी-किसी से शत्रुता भी रखते हो, मुझमें ऐसा नहीं है; यही अन्तर है। मैं सभी पर प्रेम करता हूँ और एकसा।

राधा—(सिर झुका, कुछ सोच और फिर सिर उठाकर) अब तो तुम पकड़ गये; जिन दुष्टों को तुमने मारा उन पर भी प्रेम करते थे?

कृष्ण—हाँ, उन पर भी।

राधा—(आश्चर्य से) जिनको मारा उन पर प्रेम! कैसी बात करते हो, कन्हैया!

कृष्ण—हाँ, राधा, उन पर भी प्रेम, उनपर भी। वे इतने दुष्ट थे कि अपनी दुष्टता के कारण स्वयं दु:ख पाते थे। उनका इस जन्म में सुधार असम्भव था; अतः मैंने उनका, उनके उस शरीर से उद्धार कर दिया।

राधा—तो तुम्हारे लिए सभी एक-से हैं, क्यों? फिर न जाने

हम ही लोग तुम पर क्यों प्राण दिये देते हैं।

कृष्ण—तुम्हारी इस कृति में भी हानि नहीं है, राधा, पर ऐसी परिस्थिति में विना एक बात के तुम्हें सच्चा सुख कभी न मिलेगा।

राधा—(उत्कंठा से) वह क्या, सखा ?

कृष्ण—तुम अपने को ही कृष्ण क्यों नहीं मान लेतीं ? पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को मानने लगो तथा भेद-भाव से रहित हो उसी की सेवा में दत्तचित्त हो जाओ। सेवा में तो प्रयत्न की आवश्यकता ही न होगी, क्योंकि भेद-भाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य में समता का अनुभव होने लगेगा तब जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्त-चित्त रहना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार अन्य की भलाई में भी दत्तचित्त रहना स्वभाव हो जायगा; और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य अच्छा ही न लगेगा।

राधा—(आश्चर्य से) क्या कहा ? राधा अपने को कृष्ण मानने लगे और फिर सारे संसार को कृष्ण ! तुम क्या अपने को राधा और सारे संसार को राधा मान सकते हो ?

कृष्ण—मैं तो अपने को कृष्ण और सारे संसार को कृष्ण मानता हूं, पर हाँ, यदि मुझे अपने को राधा और सारे संसार को राधा मानने में आनन्द मिले तो मैं यह भी मान सकता हूँ। तुम कहती हो न कि तुम्हारे हृदय में मुझ पर अत्यधिक अनुराग है। इसीसे मैंने कहा कि तुम अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मान लो।

राधा—(**कुछ सोचकर**) मुझसे तो ऐसा नहीं माना जाता ।

कृष्ण—जब तक नहीं माना जाता तब तक दुःख ही रहेगा ।

राधा—पर, कौन-कौन ऐसा मान सकता है ?

कृष्ण—बहुत कम लोग; इसीलिए संसार में अधिक दुखी दिखते हैं ।

राधा—पर, मैं मानूँ कैसे, सखा ? इसका भी तो उपाय बाताओ; मैं कह भी दूँ कि मान लिया तो क्या होता है ?

कृष्ण—हाँ, कहने से तो कुछ नहीं होता, उसका अनुभव करना चाहिए; यह अभ्यास से होगा; एक जन्म के अभ्यास से न होगा तो अनेक जन्म के अभ्यास से सही ।

राधा—यह तुम्हें अनुभव होता है ?

कृष्ण—हाँ, होता है ।

राधा—कबसे ?

कृष्ण—जबसे मुझे सुधि है !

राध—मुझे भी सुधि तो बहुत शीघ्र आयी, सखे, पर ऐसा अनुभव नहीं हुआ ।

कृष्ण—औरों से तुम्हें शीघ्र होगा; इसीलिए तो तुमसे प्रयत्न करने को कहता हूँ ।

राधा—(**कुछ ठहरकर**) अच्छा, यह तो जाने दो, यह कहो कब आओगे ?

कृष्ण—कुछ नहीं कहा जा सकता, कदाचित कभी न आऊँ ।

राधा—(**घबराकर**) तब तुम्हारे बिना मैं प्राण कैसे रखूँगी ?

कृष्ण—(मुसकराकर) तुमने तो कहा न कि मैं निर्मोही हूँ, फिर क्यों ऐसे निष्ठुर पर इतना प्रेम करती हो ?

राधा—यह मेरे हाथ की बात नहीं है। मैं ही क्या, नन्द बाबा और यशोदा मैया का क्या होगा ? न जाने कितने व्रजवासी तुम्हारे बिना मर जायँगे, कितनों की रो-रोकर आँखें फूट जायँगी, कितने बिलख-बिलखकर क्षीण और रोगी हो जायँगे। प्यारे, तुम्हारे बिना यह व्रज-भूमि मरु-भूमि बन जायगी। तुम तो सबको सुखी करने का उद्योग करते हो न, सखा ?

कृष्ण—जहाँ तक मुझसे हो सकता है, वहीं तक तो।

राधा—फिर व्रज के लिए यह यत्न न होगा ?

कृष्ण—यह कहाँ कहता हूँ। मैं तो यह कहता हूँ कि कदाचित् न लौट सकूँ। समझ लो, वहाँ इससे भी आवश्यक और महत्त्व का कार्य सम्मुख आ गया ?

राधा—तो फिर व्रजवासी मरे ?

कृष्ण—नहीं, प्रयत्न करो कि ऐसा न हो।

राधा—और फिर भी हुआ तो ?

कृष्ण—पर मुझे विश्वास है कि तुमने यदि प्रयत्न किया तो यह कभी नहीं होगा।

राधा—नहीं, नहीं, सखा, तुम्हें व्रज लौटना होगा।

कृष्ण—यत्न करूँगा।

राधा—(आँसू भरकर) ओहो ! सचमुच तुम बड़े निष्ठुर हो; बड़े निर्मोही हो। **(कुछ ठहरकर)** अच्छा, एक बार फिर मुरली तो

सुना दो। फिर एक बार इस ध्वनि को सुन लूँ, सखा। इन कानों को फिर एक बार इस गूँज से भर लूँ; इस हृदय को फिर एक बार इस तान से तृप्त कर लूँ; कदाचित् यह अन्तिम बार ही हो।

कृष्ण—यह लो, राधा, यह लो।

[कृष्ण मुरली बजाते हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—गोकुल की एक गली

समय—प्रातःकाल

[छोटे-छोटे झोपड़े दिखायी देते हैं। एक सकरी-सी गली है। दो गोपों का एक ओर से तथा दो का दूसरी ओर से प्रवेश। वे श्वेत अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये हैं। गुंज के भूषण पहने हैं।]

एक—आज चला जायगा, व्रज का सर्वस्व-सुख चला जायगा। महर ने वृद्धावस्था में ऐसा बेटा पाया था जैसा व्रज में कभी किसी ने नहीं पाया। कृष्ण बिना नन्द बाबा और यशोदा मैया कैसे जीवित रहेंगी और कैसे जीवित रहेगा यह व्रज, भैया?

दूसरा—अरे भैया, ऐसा क्यों विचारते हो? दो ही दिनों में कृष्ण लौट आयेंगे।

पहला—कौन जानता है क्या होगा? राजा कंस दुष्ट है यह तो जग-विख्यात है। पिता को कारागृह में रखा है। बहन देवकी और बहनोई वसुदेव भी बंदी हैं। सुना नहीं, कृष्ण को वसुदेव-देवकी का

आठवाँ पुत्र ही माना जाता है। राजा का विश्वास है कि वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र ही उन्हें मारेगा। कृष्ण को मारने नित नये दुष्ट व्रज भेजता था; आज कृष्ण को ही मथुरा बुलाया है। भैया, या तो वह इन्हें मार डालेगा या इन्हें भी कारागृह में रख देगा।

चौथा—क्यों? कदाचित् कंस का विश्वास ही सत्य निकले; कृष्ण यथार्थ में ही वसुदेव के पुत्र हों और ये ही कंस को मार डालें।

पहला—अरे भैया, कहाँ ग्यारह वर्ष के कृष्ण और कहाँ वह महारथी, पराक्रमी राजा।

दूसरा—यह तो न कहो, यहीं इन कृष्ण ने कितने पराक्रमी दुष्टों का संहार कर डाला? क्या पूतना स्त्री होकर भी कम पराक्रमी थी। शकट, वत्स, बक, अघ, धेनुक, प्रलम्ब, शंखचूड़, वृषभ, केशी, व्योम आदि दुष्ट कम पराक्रमी थे? यह बालक बड़ा अद्भुत् है, भैया, बड़ा विलक्षण है!

पहला—**(कुछ ठहरकर सोचते हुए)** यदि यह भी मान लें, तब तो यह प्रमाणित ही हो जायगा कि कृष्ण वसुदेव-देवकी के पुत्र हैं। फिर वे राजसी महलों में रहेंगे, या हमारे झोपड़ों में लौटेंगे? किसी भी अवस्था में व्रज अनाथ हो जायगा।

दूसरा—**(कुछ सोचते हुए)** हाँ, भैया, यह तुमने ठीक कहा, यह तो सच है, तब हम क्या करें?

पहला—करने को क्या है, भैया? जिस प्रकार सर्प अपनी मणि को खोकर आजन्म रोता है वैसे ही हम भी इस निधि को खोकर जन्म भर रोएंगे।

चौथा—हाय ! हाय ! सब कुछ चला जायगा। सचमुच व्रज का सर्वस्व चला जायगा। कृष्ण के एक-एक चरित्र नेत्रों के सम्मुख घूम रहे हैं। इस अवस्था में भी उन्होंने हमारे कैसे-कैसे उपकार किये ? पराक्रमी दुष्टों को मार हमारी रक्षा की, इतना ही नहीं, भैया, देखो, अपने प्राणों तक को तुच्छ मान काली नाग के गृह में अकेले घुस उसे व्रज से निकाल सदा के लिए यमुना-तट को भय रहित कर दिया। दावानल से बाहर निकाल हमें और हमारे गोधन को बचाया। घोर वृष्टि में गोवर्धन की कन्दराओं में लेजा हमारे प्राणों की रक्षा की। हमारी धर्मान्धता निवारण कर हमारे सच्चे धर्म गो-सेवा और गोवर्धन की ओर हमें प्रवृत्त किया। हमारी सामाजिक कुरीतियों का जब साधारण रीति से अन्त नहीं होता था, तब हमारी कुमारियों के वस्त्र तक हरण कर उन्हें ऐसा दण्ड दिया कि वे फिर कभी जल में नग्न न घुसें।

तीसरा—और आनन्द क्या हमें कम दिये ? हर ऋतु में ही नये-नये प्रमोद होते थे। होली में कैसा उत्सव होता था ? शरद पूर्णिमा के सुख का तो शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता; वह नृत्य और संगीत तो स्वर्गीय था, स्वर्गीय। कैसा समा बँधा था ! सभी गोप जो उस रास-मण्डल में नाचे थे, कृष्णवत् दिखते थे और सभी गोपियां राधा के समान। फिर घर में अटूट गोरस रहने पर भी दूसरों के विनोद-हेतु नित्य गोरस की चोरी होती थी और दान माँगा जाता था।

पहला—भैया, गोपराज वृषभान की इच्छा भी पूर्ण न हुई; राधा

का विवाह भी वे कृष्ण से अब कदाचित् ही कर सकें।

दूसरा—बुरी बात न विचारना ही अच्छा है; यदि कृष्ण लौट आये तो फिर जैसा का तैसा सुख हो जायगा।

पहला—हाँ, यदि किसी को निराशा में भी आशा दिखे तो आशा में आनन्दित रहना बुरा नहीं है।

दूसरा—और यदि दुःख ही पाओगे तो क्या कर लोगे ? राजा की आज्ञा के विरुद्ध न नन्द उन्हें व्रज में रख सकते हैं और न वृष-भान ही; फिर हम लोग कौनसी वस्तु हैं।

[कई गोपियों का शीघ्रता से प्रवेश।]

पहला—अरे, कहाँ भागी जा रही हो, गोपिकाओ ?

एक गोपी—कृष्ण का रथ रोकने।

दूसरा—जो काम नन्द के साहस के बाहर था, वृषभान की छाती जिसे करने न चली, हम लोग घरों में चाहे फूट-फूटकर रोते रहें, पर राजा के भय से हम जो न कर सके, वह तुम स्त्रियाँ करोगी! पगली हो पगली।

दूसरी गोपी—यदि तुम पुरुष चूड़ियाँ पहन घर में बैठ जाओ तो क्या हम स्त्रियाँ भी घर में बैठी रहें ? दोनों तो नहीं बैठ सकते।

तीसरी—अरे, राजा की इस आज्ञा के विरुद्ध तुम व्रजवासियों ने ही मिलकर यदि विप्लव किया होता तो क्या आज व्रज की यह निधि इस प्रकार लुट जाती ?

चौथी—एक बार की कायरता से जन्म-भर रोओगे, जन्म-भर।

पाँचवीं—देश में जब पुरुष कायर हो जाते हैं तब अधिकारी

किसी भी अत्याचार पर कटिबद्ध हो सकते हैं।

दूसरा—(**अन्य गोपों से**) अरे, ये गोपिकाएँ पगली हो गयी हैं, सर्वथा पगली ; चलो, भैया, हम तो अपने घर ही भले।

[गोपियाँ नहीं सुनतीं और शीघ्रता से जाती हैं। गोपों का दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का मुख्य मार्ग

समय—प्रात:काल

[एक-एक खण्ड के छोटे-छोटे गृह हैं। मार्ग साधारण रूप से चौड़ा है। कृष्ण और बलराम रथ में बैठे हुए आते हैं। रथ में चार घोड़े जुते हैं। वह छतरीदार है। उस पर चमड़ा मढ़ा है और चमड़े पर सुवर्ण और चाँदी लगे हैं। छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वज हैं। रथ धीरे-धीरे चल रहा है। बलराम की अवस्था कृष्ण से कुछ अधिक है। स्वरूप कृष्ण से मिलता है, पर वर्ण गौर है, वेष-भूषा कृष्ण के समान है। रथ के पीछे की ओर बड़ा भारी जन-समुदाय है।

बलराम—(**दुःखित स्वर से**) कृष्ण, ब्रजवासियों का विरह देख मेरी तो छाती फटी जाती है। नन्द बाबा और यशोदा मैया कितनी दुखी थीं। हाय ! इस ब्रज की एक-एक बात आठों पहर और चौसठों घड़ी स्मरण आवेंगी।

कृष्ण—(**मुसकराते हुए**) पर, आर्य, इससे क्या लाभ

होगा ? मेरा तो मत है कि जो कुछ सामने आवे उसे करते जाइए और पीछे की बातें भूलते । बहुत करके हम दो दिनों में लौट ही आवेंगे । (दाहिनी ओर देख सारथी से) अरे सूत यह देखो, कुछ गोपियाँ दौड़ी हुई आ रही हैं । इनकी मुद्रा और चाल से भास होता है कि ये कदाचित् रथ रोकने का प्रयत्न करेंगी । रथ त्वरित बढ़ा दो, नहीं तो व्यर्थ का बखेड़ा होगा ।

[सारथी रथ की गति तेज करता है]

यवनिका

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—सन्ध्या

[डूबते हुए सूर्य की किरणों से यमुना की धारा चमक रही है। सघन वृक्ष हैं। अनेक गोपियाँ बैठी गा रही हैं। सभी साड़ियाँ पहने और एक-एक वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। भूषण गुंज के हैं। मस्तक पर टिकली और माँग में सेंदूर तथा पैर में महावर है।]

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनो देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो।
सारँग प्रीति करी जु नाद सों, सन्मुख बान सह्यो॥

एक—संसार में जब प्रीति करके किसीको सुख न हुआ तब हमें कैसे होता, सखि? बारह वर्ष, पूरे बारह वर्ष बीत गये, दिन बाट देखी, रात बाट देखी, प्रातःकाल बाट देखी, संध्या बाट देखी, पर वे न आये; बारह वर्ष में भी न आये।

दूसरी—हाँ, सखि, कंस मर गया, जरासंध बारह-बारह बार हार-हारकर लौट गया, पर, उन्हें गोकुल की सुधि लेने का भी अवकाश न मिला।

तीसरी—परन्तु, हम भी तीन कोस मथुरा न जा सकीं।

चौथी—हम वहाँ जाकर क्या करतीं, सखि, और क्या करेंगी? मथुरा-निवासी कृष्ण से हमारा क्या सम्बन्ध? हमारा प्रेम तो राजसी कृष्ण से, धनी कृष्ण से, वैभव-शाली कृष्ण से, प्रासादों के निवासी कृष्ण से रण-विजयी कृष्ण से नहीं है। हमारा मथुरा से क्या काम, सखि? हम तो मोर-मुकुट, मकराकृत-कुण्डल और गुंजमाल-वाले उस भोले-भाले कृष्ण को चाहती हैं, जो गोकुल की इन कुंज-गलियों में घूम-घूमकर मुरली बजाता था, जो वृन्दावन की लता-कुंजों में भटक-भटककर गउएँ चराता था, जो गोकुल की झोपड़ियों में रहता और गोवर्द्धन की कन्दराओं में विहार करता था। हमें तो अपना निर्धन कृष्ण, गंवार कृष्ण चाहिए, सखि,। वह कृष्ण मथुरा में कहाँ?

[नेपथ्य में गड़गड़ाहट का शब्द होता है]

एक—**(जल्दी से)** देखो, सखि, रथ का-सा शब्द हुआ। अरे, कृष्ण तो नहीं आ गये!

[कई गोपियाँ दौड़कर आती हैं, शेष उत्सुकता से खड़ी हो उसी मार्ग की ओर देखती हैं। कुछ देर में गयी हुई गोपियाँ लौटकर आ जाती हैं।

वापस आनेवाली में से एक—नहीं, सखि, भ्रम था; वह तो शकट था।

[सब फिर बैठ जाती हैं।]

दूसरी—अब व्रज में गोरस की चोरी नहीं होती।

तीसरी—हाँ, सखि, और न हमसे कोई दान माँग हमारी दही की मटकी फोड़ता।

चौथी—न कहीं कोई दुष्ट ही आता।

पाँचवीं—हाँ, हाँ, शान्ति है, सखि, पूरी शान्ति।

छठवीं—पर, मृत्यु की-सी शान्ति है; जीवन की नहीं।

[नेपथ्य में वंशी के सदृश शब्द होता है।]

एक—अरे, वंशी कहाँ बज रही है ? देखो तो कहीं कृष्ण आकर चुपचाप छिपकर वंशी तो नहीं बजा रहे हैं ?

[कुछ गोपियाँ दौड़कर इधर-उधर जाती हैं। कुछ अचम्भित सी चारों ओर देखती हैं। गयी हुई गोपियाँ कुछ देर में लौट आती हैं।]

लौट आनेवाली में से एक—नहीं, सखि, वायु के बाँस में घुसने से यह शब्द हो रहा था।

[फिर सब बैठ जाती हैं।]

दूसरी—सखि, जिस नन्द-भवन में नित नव त्यौहार होता रहता था वह अब श्मसान-सा हो गया है।

तीसरी—अरे, वह तो वृषभान-नन्दिनी के कारण नन्द-यशोदा

और वृषभान का शरीर बचा है, नहीं तो वे कब के पार लग गये होते।

चौथी—वे तीनों ही क्या, यदि राधा की सान्त्वना न होती तो न जाने कितने गोप-गोपी क्षीण तथा रोगी हो-होकर मर गये होते और कितने रो-रोकर अन्धे हो गये होते।

पाँचवीं—पर, उन निर्मोही, निष्ठुर कृष्ण को इन सब बातों से क्या प्रयोजन ?

छठवीं—इतने पर भी व्रजवासी उनके पीछे प्राण दिये देते हैं।

पहली—(**उठते हुए बादल को देख**) अरे, मेघ, तू तो श्याम है, उन-सा ही तेरा वर्ण है, समवर्ण वालों में तो बड़ी आत्मीयता रहती है, यहाँ से तू मथुरा भी जाता होगा, यहां की स्थिति क्यों नहीं उन निर्मोही को सुनाता।

दूसरी—(**यमुना को देख**) तुम भी तो श्याम हो, यमुने, उसी वर्ण की हो, तुम्हारे तट पर भी तो यहां उन निष्ठुर ने अनेक क्रीड़ाएँ की थी, तुम्हीं यहाँ का थोड़ा वृत्तान्त उनसे कह दो; तुम तो वहाँ भी हो, सखि।

तीसरी—पर, इसे थोड़े ही उनका वियोग है ? इसके तट पर मथुरा में भी कोई न कोई क्रीड़ा नित्य होती होगी। दुखी से दुखी की ही सहानुभूति रहती है, यह तो सुखी है; यह हमारी दशा क्यों उनसे कहने लगी ?

[**वायु का एक झोंका आता है।**]

चौथी—अरी, बयार, तू भी तो स्त्री है, स्त्री के हृदय की

व्यथा स्त्री ही जानती है । तेरी तो कहीं भी रोक-टोक नहीं है, यहाँ के झोंपड़ों के भीतर भी तू प्रवेश करती है और मथुरा के प्रासादों में भी जाती है; तू ही दुखी व्रज की अवस्था कृष्ण के कान तक पहुँचा ।

[एक कोयल बोलती है ।]

पहली—तू भी काली है, कोयल, कालों का बड़ा मधुर शब्द होता है, पर, रूप के समान हृदय भी उनका बड़ा काला रहता है । न बोल, यहां व्रज में न बोल । एक ही काले के मधुर शब्दों को सुन-सुनकर व्रज की यह दशा हुई है । हम और कालों के शब्द नहीं सुनना चाहतीं । जा, वहीं मथुरा में बोल; मथुरा में, जहाँ तेरा सम-वर्णी रहता है ।

[एक भ्रमर आकर गुनगुन करता है ।]

दूसरी—यह लो, यह दूसरा काला आ पहुँचा । अरे, इन कालों का कोई भरोसा नहीं ।

[सब गोपियाँ गाती हैं ।]

सखीरी, स्याम सबै इक सार ।
मीठे बचन सुहाये बोलत, अंतर जारनहार ॥
कोकिल, भँवर, कुरंग, काग इन कपटिन की चटकार ।
कमल-नयन मधुपुरी सिधारे, मिटिगो मंगलचार ॥
सुनहु सखीरी, दोष न काहू, जो विधि लिख्यो लिलार ।
यह करतूति इन्हैं की नाईं, पूरब बिबिध बिचार ॥

[गान पूर्ण होते-होते उनके अश्रुधारा बह निकलती है ।]

एक गोपी—कहाँ तक रोयें सखी, कहाँ तक रोयें ।

दूसरी—अरे, पानी तो वर्षा-ऋतु में ही बरसता है, पर ये नैन तो—

[फिर सब गाती हैं ।]

सब—सखी, इन नैनन तें घन हारे ।
बिनही ऋतु बरसत निसि-बासर,
सदा मिलत दोउ तारे ॥

एक—नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय ।
नीर भरे नित प्रति रहें तऊ न प्यास बुझाय ॥

दूसरी—लाल तिहारे बिरह की, अगिनि अनूप अपार ।
सरसै बरसै नीर हू, मिटै न झर हू झार ॥

सब—ऊरध साँस समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे ।
दिसन सदन करि बसे बचन खग दुख पावस के मारे ॥
सखी इन० ।

[राधा का प्रवेश । राधा की अवस्था अब लगभग तेईस वर्ष की है । इस अवस्था में भी यौवन के सौन्दर्य के स्थान पर क्षीणता ही दिख रही है । मुख पर शोक विराजमान है । राधा को देख गोपियाँ गान बन्द कर खड़ी हो जाती हैं ।]

एक—आओ, दुखी व्रज की प्राणाधार राधा, आओ ।

दूसरी—पधारो, तप्त व्रज की शान्ति, पधारो ।

तीसरी—स्वागत, इस मरु-भूमि की नीर, स्वागत ।

चौथी—शुभागमन, इस अँधेरी रात्रि की चन्द्रकला, शुभागमन ।

पाँचवीं—विराजो, इस करुणा-सिन्धु की नौका, विराजो ।

राधा—सखियो, तुम फिर रुदन कर रही हो, क्यों ? आह ! कहाँ तक रोओगी, कहाँ तक रोओगी ? बारह वर्ष रोते-रोते बीत गये, तुम्हें कहाँ तक समझाऊं, सखियो, कहाँ तक समझाऊं ? मैं भी बहुत रो चुकी हूं । दिन और रात रोयी, उषा और सन्ध्या रोयी, ग्रीष्म और वर्षा रोयी, शरद और हेमन्त रोयी, शिशिर और वसन्त रोयी, पर उससे क्षणिक शान्ति मिलने, दग्ध हृदय के वाष्प के नीर-रूप से नेत्रों द्वारा कुछ समय के लिए बह जाने के अतिरिक्त स्थायी शान्ति नहीं मिली । सहेलियो, कृष्ण ने मुझसे अपने को ही कृष्ण मानने के लिए कहा था, और कहा था, इसके उपरान्त मैं सबको ही कृष्ण-रूप में देख उनकी सेवा में दत्तचित हो जाऊं, पर, बारह वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी मैं इसमें सफल न हो सकी । आज अपनी और तुम्हारी शान्ति के लिए एक नया उपाय सोचकर आयी हूँ । देखो, आज से मैं अपना रूप कृष्ण-सा बनाने का विचार कर रही हूं । आज से गोप और गोपिकाओं के संग मैं नित्य कृष्ण की-सी लीलाएँ करूंगी । देखें, सखि, इससे हम सबको कैसी शान्ति मिलती है ? अच्छा, तुम मुझे कृष्ण मान लो और हम उनकी एक लीला आरम्भ करें । हम लोगों ने उनकी समस्त लीलाओं पर पद्य रचना कर ही ली है, हम उनकी लीला पद्य में ही करेंगी । इस समय यदि उससे कुछ सन्तोष हुआ तो फिर मैं तत्काल कृष्ण का-सा रूप बना लूंगी । समझ लो, मैं कृष्ण हूं और तुमसे गोरस का दान माँगती हूं । अच्छा मैं गाती हूं, तुम भी आरम्भ करना ।

बहुत सी गोपियाँ—अच्छी बात है ।

राधा—

बहुत दिना तुम बच गयीं, हो, दान हमारौ मारि ।
आजु लैंहुगो आपनौं, दिन दिन को दान सँभारि ।
नागरि, दान दै ।

एक गोपी—

या मारग हम नित गयीं, हो, कबहुँ सुन्यौं नहिं कान ।
आजु नयी यह होति है, लाला, माँगत गोरस दान ।
मौहन, जान दै ।

राधा—

तुम नवीन अति नागरी हो, नूतन भूषन अंग ।
नयौ दान हम माँगहीं, प्यारी, नयौ बन्यौ यह रंग ।
नागरि, दान दै ।

[गोपियों के निकट बढ़ती हैं ।]

दूसरी गोपी—

चंचल नैन निहारिए, हो, अति चंचल मृदु बैन ।
कर नहिं चंचल कीजिए, प्यारे, तजि अंचल चंचल नैन ।
मौहन, जान दै ।

राधा—

उर आनँद अति ही बढ़्यो, हो, सुफल भये दोउ नैन ।
ललित बचन समुझति भई, प्यारी, नेति नेति ये बैन ।
नागरि, दान दै ।

[और निकट बढ़ती है।]

तीसरी गोपी—
नैंकि दूरि ठाड़े रहौ, हो, तनक रहौ सकुचाइ।
कहा कियौ मनभाँवते, मेरे अंचल पीक लगाइ।
मौंहन, जान दै।

राधा—
कहा भयौ अंचल लगी, हो, पीक हमारी जाइ।
याके बदलैं ग्वालिनी, मेरे नैनन पीक लगाइ।
नागरि, दान दै।

चौथी गोपी—(भौंहें चढ़ाकर)
सूधे बचनन माँगिए, हो, लालन, गोरस दान।
भौंहन भेद जनाइकैं, लाला, कहत आन की आन।
मौंहन, जान दै।

राधा—(मुसकराकर)
जैंसी हम कछु कहति हैं, हो, ऐसी तुम कहि लेउ।
मन मानैं सो कीजिए, पै दान हमारो देउ।
नागरि, दान दै।

पाँचवीं गोपी—(सिर हिलाते हुए)
गोरे श्रीनँदराइजू, हो, गोरी जसुमति माइ।
तुम याही तैं साँवरे, लाला, ऐसे लच्छिन पाइ।
मौंहन, जान दै।

राधा—(हाथ ऊपर उठाकर)

मन मेरो तारन बसैं, हो, औ अंजन की रेख ।
चोखी प्रीति निबाहिए, प्यारी, जासौं साँवल भेख ।
नागरि, दान दै ।

छठवीं गोपी—(मुँह बिचकाकर)
ठाले-ठूले फिरत हौ, हो, और कछू नहिं काम ।
घाट-बाट रोकत फिरौ, तुम आन न मानत स्याम ।
मौहन, जान दै ।

राधा—(एक लकड़ी उठाकर लकड़ी से पृथ्वी ठोंकते हुए)
यहाँ हमारौ राज है, हो, ब्रज-मंडल सब ठौर ।
तुमहिं हमारी कुमुदिनी, हम कमल-बदन के भौंर ।
नागरि, दान दै ।

[लकड़ी उठाकर मार्ग रोककर खड़ी होती है ।]

सातवीं गोपी—(गिड़गिड़ाकर)
काल बहुरि हम आइ हैं, हो, नव गोरस ले ग्वारि ।
नीकी भाँति चुकाइ हैं, मेरे जीवन-प्रान-अधारि ।
मौहन, जान दै ।

राधा—सुनि गोपी, नवनागरी, हो, हम न करैं बिसवास ।
कर कौ अमृत छाँड़िके, को करै काल की आस ।
नागरि, दान दै ।

[सब गोपी भाग जाती हैं, एक रहती है ।]

रही हुई गोपी—
सँग की सखीं सब फिर गईं, हो, सुनि हैं कीरति माय ।

प्रीति हिये में राखिए, प्यारे, प्रकट किये रस जाय।
मोहन जान दै।

[यह गोपी भी लौटती हुई भागती है। राधा पीछे-पीछे जाने लगती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—मथुरा में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान के पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति है। दोनों ओर दो स्तम्भ हैं जिनके नीचे कुम्भी और ऊपर भरणी है। कृष्ण और बलराम का प्रवेश। कृष्ण की अवस्था लगभग अट्ठाइस वर्ष की और बलराम की उनसे कुछ अधिक है। वेश राजसी है। कृष्ण के पीत रेशमी अधोवस्त्र और बलराम के नील रेशमी अधोवस्त्र और उसी रँग के उत्तरीय हैं। रत्नजड़ित कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये हैं। सिर पर किरीट है। लम्बे केश हैं, पर मूँछें-दाढ़ी नहीं हैं। कृष्ण का स्वरूप ठीक राम के सदृश जान पड़ता है।]

कृष्ण—कंस और उसके साथी दुष्टों के निधन से भी शूरसेन देश में शान्ति न हो सकी। सत्रह वर्ष हो चुके पर प्रति वर्ष जरासन्ध का आक्रमण होता है। शरद्-ऋतु आयी कि मगध की सेना पहुंची। तात, मेरे प्रति उसका यह व्यक्तिगत द्वेष है।

बलराम—स्वाभाविक ही है, कृष्ण, तुमने उसके जामात्र कंस को मारा है।

कृष्ण—परन्तु, आर्य, मैं तो सिंहासन पर भी नहीं बैठा, महाराज उग्रसेन राज्य के अधिकारी थे और वे ही सिंहासनासीन हैं।

बलराम—इससे क्या ? मथुरेश तो तुम ही कहलाते हो । सब जानते हैं कि यथार्थ में अधिकार तुम्हारे हाथ में है।

कृष्ण—इसका कोई न कोई उपाय सोचना होगा । प्रति वर्ष उसे हराकर देख लिया, पर वह फिर भी चढ़ आता है।

बलराम—मेरा तो स्पष्ट मत है कि मगध पर चढ़ाई कर उस देश को ही जीत लेना चाहिए।

कृष्ण—नहीं, नहीं, तात, यह कभी नहीं हो सकता। आपने इतनी बार मुझसे यही कहा और मैंने आपसे 'निवेदन भी किया कि आत्मरक्षा की नीति छोड़कर दूसरे के देश पर जीत के लिए आक्रमण करना अधर्म है।

बलराम—फिर प्रति वर्ष की इस मार-काट को बन्द करने का और क्या उपाय है ?

कृष्ण—कोई न कोई अन्य उपाय निकालना होगा।

[उद्धव का प्रवेश। उद्धव गौर वर्ण के सुन्दर युवक हैं । अवस्था कृष्ण से कुछ कम दिखती है, वेश-भूषा कृष्ण के सदृश है।]

कृष्ण—**(उद्धव को देखकर)** अच्छा, तुम आ गये, उद्धव, तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम कुछ दिनों के लिए व्रज जाओ। मैंने

इतने दिनों तक, कम से कम एक बार, वहाँ जाने का विचार किया, पर सत्रह वर्ष हो चुके, यहाँ के राजनैतिक पचड़ों के कारण निकलना ही नहीं होता। नंद बाबा, यशोदा मैया, वृषभान नृप, राधा तथा सब गोप-गोपी मेरे वियोग से दुखी होंगे। उन्हें सान्त्वना देना और शीघ्र लौट आना।

बलराम—हाँ, हाँ, बन्धु, अवश्य हो आओ।

उद्धव—बहुत अच्छा, मुझसे जहां तक होगा, जितना होगा, सान्त्वना दूंगा, पर यथार्थ में तो उन्हें आप दोनों के वहाँ जाने से ही सान्त्वना मिलेगी। यदि वे पूछें कि आप वहाँ कब आयेंगे तो मैं क्या कहूं।

कृष्ण—यहाँ का सारा वृत्तान्त कह देना। कहना कि मेरी उत्कट इच्छा है कि वहाँ अवश्य आऊं, पर यहाँ से हट सकूं तब तो। (**बलराम से**) अच्छा चलिए, आर्य, अभी तो सभा है, वहाँ आज बहुत से आवश्यक कार्य हैं।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—रात्रि

[चाँदनी छिटकी हुई है जिसमें यमुना का जल चमक रहा है। राधा अपना स्वरूप कृष्ण के सदृश बनाए हुए हैं। अनेक गोप और गोपिकाएँ हैं। राधा बंशी बजा रही हैं। गोप-गोपी गाते हुए रास कर रहे हैं।]

नाचति वृषभानु कुँवरि, हँस-सुता पुलिन मध्य,
हंस-हंसिनी मयूर मंडली बनी।
रूप-धार नंदलाल, मिलवत झप ताल चाल,
गुञ्जत मधुमत्त मधुप, कामिनी-अनी॥
पदक लाल कंठ-माल, तरणि तिलक झलक भाल,
अवनि फूल वर दुकूल, नासिका मनी।
नील कंचुकी सुदेस, चंपकली ललित केस,
मुकुलित मणि वनज-दाम कटि सुकाछिनी॥
मर्कत मणि बलय-राव, मुखरित नूपुर-सुभाव,
जावक जुत चरननि नख-चंद्रिका घनी।
मंद हास, भ्रुव-बिलास, रास-लास सुख-निवास,
अलग लाग लेति निपुन, राधिका गुनी॥

[एक गोप के संग उद्धव का प्रवेश। उद्धव को देख नाच-गाना बन्द हो जाता है।]

आगन्तुक गोप—(राधिका की ओर संकेत कर उद्धव से) यही हमारे व्रज के दुखी जीवन की अवलंब राधा हैं। अब हमारे कृष्ण और राधा दोनों ये ही हैं।

[उद्धव राधा को दण्डवत् प्रणाम करते हैं। राधा उन्हें उठाकर कहती हैं।]

राधा—हैं! हैं! महाराज, आप क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हैं, मुझ आभीर बाला को इस प्रकार प्रणाम कैसे करते हैं! देव, प्रणाम तो मुझे आपको करना चाहिए।

उद्धव—आपको ऐसा प्रणाम मुझे ही क्या स्वयं कृष्ण को भी करना चाहिए, देवि। इस व्रज में आये मुझे अब यथेष्ट समय हो गया है। क्या नंद बाबा, क्या यशोदा मैया और क्या अन्य व्रज-वासियों से मैंने आपके जिन चरित्रों को सुना है, उनके कारण मैं मुक्तकंठ से कह सकता हूँ कि आप इस पृथ्वी पर अद्वितीय हैं। भगवती, यदि आप व्रज में न होतीं तो यह व्रज कृष्ण के शोक-समुद्र में डूब गया होता, कृष्ण की विरह-वृष्टि ने इस व्रज को बहा दिया होता। क्या वृद्ध, क्या युवक, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी, सभी को तो आपसे सान्त्वना मिली है, देवि, सभी को। आपको एक दंडवत् प्रणाम, राधे, अरे, एक क्या, अनेक भी यथेष्ट नहीं हैं।

राधा—कृष्ण-सखा, मैं आपके आगमन का वृत्त सुन चुकी थी, पर मेरा साहस आपसे मिलने का नहीं होता था। आपको देख सत्रह वर्ष पूर्व का मेरा घाव, जो गत पाँच वर्ष पूर्व तक दिन और रात बहा करता था, कहीं पुनः हरा न हो उठे, इसीका मुझे भय था। मेरी आप क्या प्रशंसा करते हैं, उद्धव? मैं व्युत्पन्न नहीं, शास्त्रों से अनभिज्ञ, ज्ञान नहीं जानती, व्रत नहीं जानती, योग नहीं जानती, कोई साधना नहीं जानती। मेरे पास तो एक वस्तु है—केवल एक, कृष्ण-बंधु, और वह है प्रेम, कृष्ण-प्रेम। उन्हींका एकादश वर्ष का मनोहर स्वरूप, मेरे हृदय में, विराजित है। उन्हींका मैं ध्यान करती हूँ और उन्हीं के नाम का जप। बारह वर्ष तक उनके लिए रोती रही, ऐसी रोयी, हरि-सखा, जैसा संसार में कदाचित् कोई न रोया होगा। जब उससे सान्त्वना न मिली, तब गत पाँच वर्ष से

उन्हीं के नाना चरित्र करती हुई इस व्रज-मण्डल में घूमती रहती हूँ। इससे कुछ शान्ति मिली है। अभी भी रोती हूँ, पर उस रुदन और इस रुदन में अन्तर है। वह दुःख का रुदन था, यह प्रेम का प्रवाह है। उन्हींके कथनानुसार सर्वत्र उन्हें देखने का उद्योग करती हूँ, उन्हींकी बतायी हुई सबकी सेवा अब मेरा धर्म है, वही मेरा कर्तव्य है। मैं भोली-भाली, सीधी-साधी, आभीर-बाला और कुछ नहीं जानती—और कुछ नहीं। आज पूर्णिमा थी, अतः कृष्ण ने जैसा रास किया था, वैसा करने का हम लोग प्रयत्न कर रही थीं।

उद्धव—तो मैं उसके दर्शन से क्यों वंचित रखा गया हूँ, देवि? क्या मेरे सामने वह रास नहीं हो सकता?

राधा—क्यों नहीं हो सकता, अवश्य हो सकता है। हमारे पास, हमारे प्राणवल्लभ कृष्ण के प्रेम में कोई लोक-लज्जा नहीं है, उद्धव। हमारा-उनका शुद्ध, नितान्त शुद्ध प्रेम था; बालकों का प्रेम और हो ही कैसा सकता है? (**गोप-गोपिकाओं से**) नृत्य-संगीत आरम्भ करो, मथुरा-पुरी से आये हुए हरि-सखा हम ग्रामीण आभीरों का नृत्य-गान देखना चाहते हैं।

[पुनः नृत्य-गान प्रारंभ होता है।]

चलहु राधिके सुजान, तेरे हित गुन-निधान,
रास रच्यो कुँवर कान्ह, तट कलिंद-नंदिनी।
नर्तत जुवती समूह, रास-रंग अति कुतूह,
बाजत मुरली रसाल, अति अनंदिनी॥
बंसीबट निकट जहा, परम रमन रेत तहाँ,

सरस सुखद बहत मलय वायु मंदिनी ।
जाती ईषद् बिकास, कानन अतिसय सुबास,
राकानिसि सरद मास, विमल चंदिनी ॥
ब्रजबासी प्रभु निहारि, लोचन भरि घोष नारि,
नख-सिख-सौंदर्य सीम, दुख-निकंदिनी ।
बिलसी भुज ग्रीव मेलि, भामिनि सुख-सिंधु झेलि,
गोवर्द्धन-धरन-केलि, त्रिजग-बंदिनी ॥

उद्धव—(**नृत्य-गान पूर्ण होने पर**) अद्भुत है यह नृत्य और अद्वितीय है यह गान । कृष्ण के प्रति आपका विलक्षण प्रेम है । धन्य हैं आप और धन्य हैं वे कृष्ण; उपासक और औपास्य दोनों ही धन्य हैं ।

राधा—क्यों उद्धव, कभी कृष्ण भी इस व्रज और यहाँ के निवासियों का स्मरण करते हैं ?

उद्धव—उनके मन में क्या है, यह कहना तो............।

राधा—(**जल्दी से**) ठहरिए, ठहरिए, उद्धव, मैं अपने व्रत से पुनः भ्रष्ट हो रही हूँ । इसीलिए आपसे मैं मिलती नहीं थी, मुझे भय लगता था कि आपसे मिलकर कहीं सत्रह वर्ष का पुराना मेरा घाव फिर न हरा हो जाय । मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं है कि वे व्रज को स्मरण करते हैं या नहीं, उन्हें व्रजवासियों की स्मृति आती है या नहीं, मेरा प्रेम उनके प्रेम को परिवर्तन में नहीं चाहता, मुझे उनको प्रेम करने में सुख मिलता है, इसीलिए मैं उनसे प्रेम करती हूँ, इस आशा पर नहीं कि वे भी मुझसे प्रेम करें । क्षमा कीजिए,

हरि-सखा, मैं अब यहाँ नहीं ठहरूँगी; मुझे बड़ा भय लग रहा है कि कहीं मेरा घाव फिर से सर्वथा ही हरा न हो जाय। हाय! सत्रह वर्ष के पश्चात् भी यह दशा! यह घाव अभी भी पूरा नहीं भरा, पूरा नहीं भरा!

[राधा का शीघ्रता से प्रस्थान। उद्धव आश्चर्य से देखते हैं। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—मथुरा-पुरी का एक मार्ग

समय—संध्या

[अनेक खण्डों के भवन हैं। चौड़ा मार्ग है। चार पुर-वासियों का प्रवेश। सब अधोवस्त्र और उत्तरीय एवं सुवर्ण के कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये हैं।]

पहला—लो, बन्धु, इस वर्ष दो आक्रमण होंगे; जरासंध का तो हर वर्ष होता ही था, इस बार कालयवन का भी होगा।

दूसरा—यह तो कंस के अत्याचार से भी भयानक आपत्ति है; अठारह वर्ष से नित्य की यह मार-काट असह्य है, बन्धु!

तीसरा—कितने जन और कितने धन का संहार हो चुका!

चौथा—कृष्ण और जरासंध की व्यक्तिगत शत्रुता के कारण प्रजा यह क्लेश पा रही है। यदि कृष्ण यहाँ न होते तो हम पर यह आपत्ति न आती।

पहला—जरासंध ने ही कालयवन को भड़काया है।

दूसरा—मगध पर आक्रमण कर हम उसके राज्य को ले लें सो भी नहीं हो सकता।

तीसरा—कैसे हो ? वह कृष्ण के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

दूसरा—अरे, वही हो जाता तो अब तक वह कब का नष्ट हो चुका होता। सत्रह बार हमने उसें हराया तो क्या आक्रमण कर हम मगध न जीत लेते ?

चौथा--पर, करोगे क्या ? उग्रसेन तो नाममात्र के राजा हैं, सारी सत्ता यथार्थ में कृष्ण के हाथ में है।

पहला—सचमुच बड़ी भयानक परिस्थिति है। अच्छा, चलो तो और थोड़ा पता लगावें कि कब तक आक्रमण होता है।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पांचवां दृश्य

स्थान—कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में थी। विचार-मग्न कृष्ण खड़े हैं। उद्धव का प्रवेश।]

कृष्ण—(**उद्धव के आगमन की आहट सुन उन्हें देख**) अच्छा, तुम व्रज से लौट आये ?

उद्धव—हां, अभी-अभी, आ रहा हूँ, यदुनाथ, वहाँ की दशा तो बड़ी अदभुत और करुण............।

कृष्ण—(**बात काट कर**) चाहे वहाँ की दशा अद्भुत हो

था कृष्ण, इस समय वहाँ की दशा सुनने का समय नहीं है । तुमने सुना नहीं कि इस बार शूरसेन देश पर दो आक्रमण हो रहे हैं—जरासंध और कालयवन का ।

उद्धव—अभी-अभी सुना है ।

कृष्ण—फिर क्या करना होगा ।

उद्धव—लड़ना होगा और क्या करना होगा, यदुनाथ ।

कृष्ण—**(दृढ़ता-भरे स्वर में)** नहीं, लड़ना नहीं होगा ।

उद्धव—**(आश्चर्य से)** तब क्या करना होगा ?

कृष्ण—देखो, उद्धव, इस युद्ध का इस प्रकार कभी अन्त न होगा । यह अट्ठारहवीं बार आक्रमण हुआ है । प्रजा इन नित्य के आक्रमणों से तलमला उठी है । अपार धन और जन का संहार हो हो चुका है । मैंने कई बार तुमसे कहा ही है कि शूरसेन देश पर जरासंध के आक्रमणों का कारण मेरी व्यक्तिगत शत्रुता है और कुछ नहीं । उग्रसेन उसके समधी हैं; उनसे उसकी कोई शत्रुता नहीं । एक व्यक्ति के कारण नित्य की यह मार-काट होना अनर्थ है । सत्रहवीं बार के युद्ध में उसके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक मार डाले गये तो वह अट्ठारहवीं बार कालयवन को सहायक बनाकर ले आया ।

उद्धव—तो मगध पर आक्रमण कीजिए ।

कृष्ण—वह तो और भी बुरा है ।

उद्धव—तब फिर क्या कीजिएगा ?

कृष्ण—**(मुसकराकर)** मैंने इसका उपाय सोच लिया है ।

उद्धव—क्या ?

कृष्ण—मैं युद्ध नहीं करूँगा, भागूँगा।

उद्धव—(आश्चर्य से, चौंककर) आप हँसी तो नहीं कर रहे हैं !

कृष्ण—नहीं मैं नितान्त गंभीर होकर कह रहा हूँ।

उद्धव—आप युद्ध छोड़कर भागेंगे, इसका क्या अर्थ ?

कृष्ण—युद्ध छोड़कर भागने का अर्थ युद्ध छोड़कर भागना ही हो सकता है; कोष में एक-एक शब्द का अर्थ देखने से भी इस वाक्य का और कोई अर्थ न निकलेगा।

उद्धव—पर, यदुनाथ, आप युद्ध से भागेंगे कैसे ?

कृष्ण—दोनों पैरों से, यदि सिर के बल भागा जा सकता हो तो वह और भी अच्छा है। (हँस देते हैं।)

उद्धव—यदुनाथ, यह हँसी की बात नहीं है; यह बात सुनकर मेरी तो साँस घुट रही है और आपको इसमें भी हँसी सूझती है।

कृष्ण—मैं हँसी नहीं कर रहा हूँ, उद्धव।

उद्धव—(खीझकर) पर, युद्ध में भागना अधर्म है, यदुनाथ।

कृष्ण—क्योंकि अब तक लोग उसे अधर्म कहते हैं।

उद्धव—हाँ, किन्तु............।

कृष्ण—(बात काटकर) किन्तु-परन्तु कुछ नहीं, प्रचलित बातों के विरुद्ध अच्छी बात भी करना लोगों को अधर्म दिखता है। देखो, उद्धव, धर्म का काम लोक-रक्षा है। यदि जरासंध देश जीतने के लिए युद्ध करने आता होता तो देश की रक्षा करने के निमित्त युद्ध

करना अनिवार्य था। इसी प्रकार यदि किसी सद्सिद्धान्त की रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक होता तो भी युद्ध करना ही पड़ता, क्योंकि स्थायी रूप से लोक-रक्षा सद्सिद्धान्तों की रक्षा से ही हो सकती है; परन्तु ज़रासंध केवल मेरे व्यक्तिगत द्वेष के कारण बार-बार आक्रमण करता है। कालयवन को भी वही उकसाकर लाया है। जब तक वह मुझे एक बार नीचा न दिखा लेगा, तब तक यह रक्तपात बन्द न होगा। यदि एक मेरे नीचा देख लेने से इतने जन और धन की रक्षा होती है, तो मेरा नीचा देखना ही धर्म है; अतः इस समय युद्ध करना धर्म नहीं, पर, देश के जन तथा धन की रक्षा के निमित्त युद्ध से भागना ही धर्म है।

उद्धव—परन्तु, यदुनाथ, इससे लोग आपको कायर कहेंगे।

कृष्ण—(**मुसकराकर**) मुझे लोगों के कल्याण की चिन्ता है या इसकी कि मुझे वे क्या कहेंगे? मैं युद्ध में से भागूँगा, अवश्य भागूँगा। युद्ध-क्षेत्र पर जाकर जरासंध और कालयवन दोनों के सामने से, दोनों की सेनाओं के बीच में से, भागूँगा, जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि मैं ही भागा हूँ, कोई दूसरा नहीं। फिर मैं निःशस्त्र होकर भागूँगा तथा इतने वेग से भागूँगा कि कोई मुझे पकड़ भी न सकेगा। मैंने द्वारका नामक एक द्वीप का पता लगाया है, वहाँ जाकर बसँगा। यह द्वीप भारत के द्वार के सदृश होने के कारण समस्त देश की रक्षा के लिए एक महत्त्वशाली स्थान है। इस दृष्टि से भी मेरा वहाँ बसना उपयोगी होगा। शूरसेन देश की रक्षा का, इस रक्त पात और मार-काट के निवारण का, अपार जन और धन के बचाने

का और कोई अच्छा उपाय नहीं है।

[कृष्ण का हँसते हुए प्रस्थान। उद्धव कुछ सोचते-सोचते नीचा मस्तक किये पीछे-पीछे जाते हैं। परदा उठता है।

छठवां दृश्य

स्थान—शूरसेन देश की सीमा पर रणक्षेत्र

समय—प्रातःकाल

[दूर-दूर तक मैदान दिखायी देता है। एक ओर यादव-सेना और दूसरी ओर आधे भाग में एक प्रकार के वस्त्र और आधे भाग में दूसरे प्रकार के वस्त्र पहने दो सेनाएँ खड़ी हैं। इन दोनों सेनाओं के सेनापतियों की वस्त्र-भूषा सैनिकों से भिन्न प्रकार की है, जिससे वे सेनापति मालूम होते हैं। सैनिकों के कवच और शस्त्र सूर्य की दीप्ति से देदीप्यमान हैं। युद्ध आरम्भ होने के शंख बजते ही हैं। निःशस्त्र कृष्ण का प्रवेश।]

एक सेनापति—(निःशस्त्र कृष्ण को देख आश्चर्य से दूसरे सेनापति से) कालयवन महाराज, यही तो कृष्ण है, यही ?

दूसरा सेनापति—पर, मगधराज, युद्ध के समय यह कैसा वेश है ? आप भूल कर रहे होंगे। कृष्ण इस प्रकार युद्ध में आयेगा ?

पहला—नहीं, नहीं, मैंने एक बार नहीं सत्रह बार इसे देखा है; भूल कदापि नहीं हो सकती।

दूसरा—तब यह हमारी शरण आया है।

पहला—यही समझना चाहिए, और क्या।

[**कृष्ण उनके सम्मुख से भागते हैं।**]

पहला—(अत्यंत आश्चर्य से) अरे, यह तो भाग रहा है, भाग रहा है!

दूसरा—कहाँ भाग कर जायगा, मैं अभी पीछा करता हूँ। **(पीछे दौड़ता है।)**

यवनिका

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—द्वारका-पुरी में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा के प्रासाद की थी, पर, रंग भिन्न है। कृष्ण और उद्धव टहलते हुए बातें कर रहे हैं।]

कृष्ण—देखो, उद्धव, वही हुआ न, जो मैंने सोचा था। आज पूरे दो वर्ष हो चुके, शूरसेन देश पर मगध का कोई आक्रमण नहीं हुआ। कालयवन का मुचकुंद ने संहार भी कर दिया, यह अनायास ही हो गया। अधर्मियों का क्षय कभी-कभी इस प्रकार अनायास ही हो जाता है।

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, यही हुआ।

कृष्ण—मेरे अकेले की अकीर्ति से देश का कल्याण हो गया; उस अपार जन और धन का संहार बचा।

उद्धव—पर अब तो कोई अकीर्ति भी नहीं रही, द्वारकेश। सभी यह कहते हैं कि आपने देश-हित की प्रेरणा से ही ऐसा किया।

कृष्ण—यह प्रायः होता है; किस उद्देश से किसने कौनसा

काम किया, कभी-कभी चाहे यह प्रकट न हो, पर अधिकतर अन्त में स्पष्ट हो ही जाता है । पर, कोई कुछ कहे भी तो इसकी मुझे क्या चिन्ता है ? मेरी अन्तरात्मा को मुझ पर यह दोष नहीं लगाना चाहिए कि मैंने कोई बुरा काम किया । (कुछ ठहरकर) उद्धव, तेरी तो यह इच्छा भी न थी कि मेरे अकेले के कारण इतना जन-समुदाय देश को छोड़ इस द्वीप को बसने को आवे, पर लोग मानते ही नहीं ।

उद्धव—ऊपर से बुरी दिखनेवाली, रण छोड़कर भागने की उस कृति से शूरसेन देश में जो शांति हो गयी उससे प्रजा की आप पर इतनी श्रद्धा बढ़ी है कि शूरसेन देश में उसे रोकना ही असम्भव हो गया है, यदुनाथ ।

कृष्ण—संतोष का विषय इतना ही है कि यहाँ भी प्रजा को कोई कष्ट नहीं हो रहा है, सब सुविधा से बसते जा रहे हैं । ज्ञात होता है, कुछ ही समय में यह देश भी धन-धान्य पूर्ण हो जायगा ।

उद्धव—और आपके यहां आने पर भी शूरसेन देश की राज्य-व्यवस्था नहीं बिगड़ी । मुझे तो केवल व्रजवासियों की चिन्ता रहती है ।

कृष्ण—चिन्ता-सोच तो किसी बात के लिए भी निरर्थक है, पर हां, व्रज जाने की अभी भी मेरी इच्छा है; समय ही नहीं मिलता, करूं क्या ? और फिर जब मथुरा से तीन कोस की यात्रा का समय न मिला, तब अब तो बहुत दूर की बात हो गयी; यहाँ तो और अधिक कार्य हैं । फिर भी जाने का प्रयत्न करूँगा ।

(कुछ ठहरकर) व्रज छोड़े लगभग बीस वर्ष होते हैं क्यों, उद्धव ?

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, बीस वर्ष। (कुछ ठहरकर) एक बात मुझे बहुत काल से आपको कहने की इच्छा है, कहूँ क्या ?

कृष्ण— तुम्हें मैं अपना मित्र समझता हूँ, तुम्हें किसी बात के कहने में संकोच क्यों ?

उद्धव—आपकी अवस्था तीस वर्ष के ऊपर हो गयी है, विवाह के सम्बन्ध में आपने कुछ विचार किया ?

कृष्ण—(मुसकराकर) क्यों नहीं किया; पिताजी, महाराज उग्रसेन आदि सभी इस सम्बन्ध में मुझे कई बार कह चुके हैं।

उद्धव—तब क्या निर्णय किया, द्वारकेश ?

कृष्ण—मैं इस झंझट से अलग ही रहना चाहता हूँ। तुम जानते हो, जब मनुष्य राज्य, विवाह आदि बंधनों से जकड़ जाता है, तब उसे कर्तव्य-पालन में उतनी स्वतंत्रता नहीं रहती; इसीलिए मैंने राज्य-सिंहासन नहीं लिया और विवाह भी नहीं करना चाहता।

उद्धव—परन्तु, आपकी प्रकृति तो ऐसी है कि उसकी स्वतंत्रता का अपहरण संसार में कोई भी बात कर सके, यह मैं नहीं मानता।

कृष्ण—कदाचित् यह ठीक हो, परन्तु फिर भी बंधनों से जितनी दूर रहा जा सके उतना ही अच्छा है।

[प्रतिहारी का प्रवेश]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) श्रीमान्, विदर्भ देश से एक

ब्राह्मण आये हैं और श्रीमान् के दर्शन करना चाहते हैं।

कृष्ण—उन्हें आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान, एक वृद्ध ब्राह्मण के संग पुनः प्रवेश और उस ब्राह्मण को छोड़ फिर प्रस्थान। कृष्ण और उद्धव ब्राह्मण को प्रणाम करते हैं और वह आशीर्वाद देता है।]

कृष्ण—कहिए, देव, कुशल तो है ? तपोवृत्ति ठीक चलती होगी ? इतनी दूर इस द्वीप में पधारने का कैसे कष्ट उठाया ?

ब्राह्मण—सब कुशल है, द्वारकाधीश! मुझे आपकी सेवा में विदर्भ-कुमारी श्रीमती रुक्मिणी देवी ने कुण्डनपुर से एक पत्र देकर भेजा है, यदुनाथ।

कृष्ण—अच्छा, वे ही न, जिनका विवाह चेदि-देश के राजा शिशुपाल से होनेवाला है ?

ब्राह्मण—हाँ, वे ही, द्वारकेश। किन्तु, यह विवाह उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके कुटुम्बी कर रहे हैं। उन्होंने तो आपके गुणानुवादों को सुन संकल्प कर लिया है कि वे आपको छोड़ किसी अन्य से विवाह न करेंगी। आपसे प्रेम रहने के कारण चेदि-नरेश से विवाह करने की अपेक्षा राजकुमारी मृत्यु को उत्तम समझती हैं। उन्होंने निश्चय किया है कि यदि आप किसी प्रकार भी उनका पाणिग्रहण न कर सके तो विवाह के पूर्व वे अपने प्राण दे देंगी। विवाह के थोड़े ही दिन शेष हैं, वे विवाह के दिवस तक आपकी प्रतीक्षा करेंगी, यदि आप न पधारे तो उनकी मृत्यु निश्चित है। यह उनका पत्र है, द्वारकाधीश। (**एक पत्र कृष्ण को देता है।**)

कृष्ण—(**पत्र खोल और पढ़कर**) आप आनंदपूर्वक ठहरें । विश्राम के पश्चात् विदर्भ देश लौटकर राजकुमारी को सूचित कर दें कि मैं ठीक समय कुण्डनपुर पहुँच जाऊँगा । (**ज़ोर से**) प्रतिहारी ! प्रतिहारी ! (**प्रतिहारी का प्रवेश और अभिवादन ।**) ब्राह्मण-देवता को सुखपूर्वक ठहराकर भोजन कराओ ।

[**प्रतिहारी और ब्राह्मण का प्रस्थान ।**]

उद्धव—आप उनके कुटुम्बियों की इच्छा के विरुद्ध रुक्मिणी देवी से विवाह कैसे करेंगे, देव ?

कृष्ण—(**मुसकराकर**) मैं रुक्मिणी का हरण करूँगा, उद्धव ।

उद्धव—(**आश्चर्य से**) पर, यदुनाथ, माता, पिता, भ्राता एवं कुटुम्बी जनों को अधिकार है कि वे जिससे चाहें कन्या का विवाह करें ।

कृष्ण—यह अनुचित अधिकार है, उद्धव । वर-वधू को जन्म-भर परस्पर संग रहना पड़ता है, उनके भाग्य का इस प्रकार निर्णय करने का बांधवों को कोई अधिकार नहीं है ।

उद्धव—परन्तु, फिर तो समाज की मर्यादा भंग हो जायगी, यह तो अधर्म होगा ।

कृष्ण—समाज की अनुचित मर्यादा को तोड़ना ही धर्म है । मैंने इसी को तो अपना जीवन-कार्य बनाया है ।

उद्धव—और अभी तो आपने यह कहा था कि आपका विचार ही विवाह करने का नहीं है ।

कृष्ण—उस समय मेरे सम्मुख ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित

नहीं था। कर्तव्य का निर्णय तो समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार बदलना ही पड़ता है। एक बालिका की प्राण-रक्षा का प्रश्न है। पढ़ के देख, कैसा करुणापूर्ण पत्र है। तो फिर चलो, कुण्डनपुर प्रस्थान के लिए प्रस्तुत हुआ जाय।

[कृष्ण पत्र उद्धव को देते हैं। दोनों का प्रस्थान । परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—विदर्भ-देश कुण्डनपुर में दुर्गा का मंदिर

समय—सन्ध्या

[छोटा-सा सुन्दर मंदिर है, जिसका शिखर सूर्य की सुनहरी किरणों से चमक रहा है। मन्दिर के बाहर रुक्मिणी विवाह के श्रृङ्गार में दुर्गा के सम्मुख खड़ी हुई स्तुति कर रही हैं। सहेलियाँ उसके पीछे खड़ी हुई संग ही गा रही हैं। इधर-उधर सेना भी खड़ी है। रुक्मिणी की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की है। वे गौर वर्ण की परम सुन्दरी युवती हैं।]

जय जय जग-जननि देवि, सुर-नर-मुनि-असुर सेवि,
भक्ति-मुक्ति-दायिनि, भय-हरनि, कालिका।
मंगल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्व-सर्वरीस-बदनि,
ताप-तिमिर-तरुन-तरनि-किरन-मालिका ॥
बर्म-चर्म कर-कृपान, सूल-सेल धनुष-बान,
धरनि, दलनि-दानव-दल, रन-करालिका।

पूतना पिसाच प्रेत, डाकिनि साकिनि समेत,
भूत ग्रह बेताल खग मृगालि-जालिका ॥

[गान पूर्ण होते-होते कृष्ण रथ पर आते हैं। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था।]

कृष्ण—(जोर से) विदर्भ-कुमारी रुक्मिणी! कृष्ण प्रस्तुत है।

[रुक्मिणी चौंककर रथ की ओर देखती है और रथ के निकट बढ़ती है। कृष्ण उन्हें सहारा दे रथ पर चढ़ाते हैं। रथ शीघ्रता से आगे बढ़ता है। यह सब इतने शीघ्र होता है कि सब आश्चर्यचकित से रह जाते हैं। रथ चलते ही हलचल और कोलाहल मचता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारकापुरी का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[मार्ग के भवन मथुरा के समान ही हैं। मार्ग भी चौड़ा है। दो पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—देखा, बन्धु, इस संसार में कार्य का बदला किस प्रकार मिलता है। कृष्ण ने यदि किसीकी भगिनी का हरण किया था, तो किसीने उनकी भगिनी सुभद्रा का हरण कर लिया।

दूसरा—पर यह तो उनके मित्र अर्जुन ने किया है। सुना है यह कृष्ण की गुप्त अनुमति से हुआ है।

पहला—(**आश्चर्य से**) यह क्या कहते हो ! कोई अपनी भगिनी का हरण करावेगा !

दूसरा—कृष्ण जो करें सो थोड़ा है ।

पहला—अच्छा चलो, अभी तो चलकर सेना का रण-प्रस्थान देखें । इस बार इन्द्रप्रस्थ में घोर संग्राम होगा । बराबरीवालों का विवाह और युद्ध दोनों ही दर्शनीय होते हैं ।

दूसरा—पर, मुझे तो इस युद्ध में बड़ा सन्देह है, कृष्ण यह युद्ध कदापि न होने देंगे ।

पहला—बलराम रुकनेवाले नहीं हैं, उनका क्रोध चरम सीमा को पहुँच गया है, चलो, चलकर देखें तो, चलने में क्या हानि है ?

दूसरा—हाँ, हाँ, चलने में कोई हानि नहीं, चलो ।

[दोनों का प्रस्थान । परदा उठता है ।]

चौथा दृश्य

स्थान—द्वारकापुरी में बलराम के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान तीसरे अंक के पहले दृश्य के समान ही है, पर रंग भिन्न है । क्रोधित बलराम और संग में उद्धव का प्रवेश ।]

बलराम—(**क्रोध से**) पाण्डवों को इतना मद ! अर्जुन का इतना साहस ! अभी जब कौरवों के हाथ में सत्ता है तभी इतना मद हो गया, तो राज्य मिलने पर वे न जाने क्या करेंगे । मेरी भगिनी

सुभद्रा का हरण, कृष्ण-भगिनी सुभद्रा का हरण, वसुदेव-पुत्री सुभद्रा का हरण ! इन्द्रप्रस्थ को यदि मिट्टी में न मिला दिया और अर्जुन का यदि क्षणमात्र में वध न कर दिया, तो मेरा नाम बलराम नहीं ।

उद्धव—शांत होइए, श्रीमान्, शान्त होइए; पाण्डव अपने किये का फल अवश्य पावेंगे, रेवतीपति ।

[कृष्ण का प्रवेश ।]

कृष्ण—(मुसकराते हुए) इतना क्रोध, तात, इतना क्रोध ! जब मैंने रुक्मिणी का हरण किया था, उस समय आपने मुझ पर इतना क्रोध क्यों नहीं किया ? उस समय मुझे बचाने के लिए रुक्मिणी के भ्राता रुक्म से आप क्यों लड़े, आर्य ? रुक्मिणी भी किसीकी भगिनी थी, किसीकी पुत्री थी ।

बलराम—(क्रोध से) ज्ञात होता है, कृष्ण, तुम्हारा भी इस षड्यंत्र में हाथ है । अर्जुन से मित्रता है तो क्या तुम्हारी मित्रता के कारण अर्जुन हमारे कुल का अपमान करेगा, हमारे कुल में कलंक लगाएगा ?

कृष्ण—(मुसकराते हुए) मैंने भी क्या किसीके कुल का अपमान किया है ? क्या किसी के कुल में कलंक लगाया है ? अर्जुन ने ठीक वही किया है, जो मैंने किया था । यदि अर्जुन का कृत्य निन्दनीय है तो मेरा भी है, यदि अर्जुन दण्ड पाने के योग्य है, तो मैं भी हूँ । आप मुझसे भी बड़े हैं और अर्जुन से भी; पहले मेरा सिर काट दीजिये, तब इन्द्रप्रस्थ पर आक्रमण कीजिएगा ।

बलराम—(दुःखित होकर) कृष्ण तुम दग्ध पर लवण

झिड़क रहे हो, तुम दुखी को दुखी कर रहे हो।

कृष्ण—तात, किसी बात के भीतर घुसकर न देखने से ही मनुष्य को दुःख होता है। सुभद्रा जैसी आपकी भगिनी है, वैसी ही मेरी भी तो है, उसके हरण से मैं दुःखी नहीं हूँ और आप क्यों हैं, आर्य ?

बलराम—(**त्यौरी चढ़ाकर**) इसका स्पष्ट उत्तर सुनना चाहते हो ?

कृष्ण—बिना इसके विषय का निपटारा कैसे होगा ?

बलराम—तो स्पष्ट उत्तर यह है कि तुमने भी वैसा ही पाप किया है, इसीसे तुम दुखी नहीं हो।

कृष्ण—मैं तो उसे पाप न मान कर धर्म मानता हूँ, परन्तु आपकी दृष्टि से यदि उसे पाप भी मान लिया जाय तो पाप-कर्म करने पर भी आपने मेरी रक्षा क्यों की ?

[**बलराम चुप रहते हैं।**]

कृष्ण—मेरे संकोच के कारण आप पूरी बातें स्पष्ट न कहेंगे, अच्छा मैं ही कहता हूँ, अपना और आपका, दोनों का काम मैं ही करता हूँ। सुनिए, आपकी दृष्टि से पाप होते हुए भी आपने मेरे पाप-कर्म में भी इसलिए सहायता दी कि मैं आपका भ्राता हूँ, क्यों ठीक है ?

बलराम—(**ज़ोर से**) हाँ; यह तो है ही।

कृष्ण—रुक्मिणी आपकी भगिनी न थी और उसका हरण आप के भ्राता ने किया था, आपकी दृष्टि से भ्राता का वह कर्म पापमय

होने पर भी आपने उस कर्म में इसलिए सहायता दी कि वह आपके भ्राता ने किया था। सुभद्रा आपकी भगिनी है और उसे हरण करनेवाला एक अन्य व्यक्ति है अतः आप उसे दण्ड देना चाहते हैं। आर्य, इस भेद-बुद्धि से ही तो दुःख होता है, यही तो स्वार्थ है, यही तो दुःख की जड़ है। आपकी दृष्टि से यदि किसीने पाप किया है तो आपको उसे दण्ड देने का अवश्य अधिकार है, पर यदि वही पाप दो मनुष्यों ने किया है और उसमें से एक आपका भ्राता है तो आपको अपने भ्राता को भी वही दण्ड देना होगा, जो आप अन्य व्यक्ति को देना चाहते हैं।

बलराम—यह नीति संसार में व्यवहार्य्य नहीं है।

कृष्ण—मेरा तो विश्वास है कि जब तक संसार इस समनीति का अनुसरण न करेगा, तब तक वह दुखी ही रहेगा। अब हम लोगों के कृत्यों के धर्म-अधर्म की ओर थोड़ी दृष्टि डालिए। रुक्मिणी के कुटुम्बी उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति के साथ करना चाहते थे, जिस पर उसका प्रेम तो दूर रहा, परन्तु जिस पर उसकी महान् घृणा थी; उसने उससे विवाह करने की अपेक्षा प्राण देने का निश्चय कर लिया था। आप सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करना चाहते थे जिससे वह भी अत्यन्त घृणा करती थी और वह भी कदाचित् विवाह करने की अपेक्षा प्राण दे देती। मैं तो आजन्म विवाह करना ही नहीं चाहता था, पर रुक्मिणी का मुझ पर प्रेम था और सुभद्रा का अर्जुन पर। मैंने रुक्मिणी के जीवन को सुखी करने का प्रयत्न किया तथा उस पर किये जानेवाले अत्याचारों को रोका और अर्जुन ने सुभद्रा के

जीवन को। आपने मुझे सहायता दी और (**मुसकराकर**) आपके इस लघु और प्राणों से प्यारे भ्राता ने अर्जुन को। यह सब पुण्य हुआ या पाप?

बलराम—(**मुसकराकर**) तुम तो अद्भुत हो, सचमुच विचित्र हो, कृष्ण, पर, बन्धु, इन सब बातों से समाज की मर्यादा भंग होती है।

कृष्ण—समाज की अन्यायपूर्ण मर्यादाओं से समाज को उल्टा क्लेश होता है अतः इन्हें भंग करना ही होगा। अच्छा, अब सुनिए, भगिनी के विधवा बनाने की बात छोड़िए और यहाँ के कार्य को सँभालिए; मुझे फिर बाहर जाना है।

बलराम—अब कहाँ जाओगे?

कृष्ण—मुझे कामरूप देश के भौमासुर पर तत्काल आक्रमण करना होगा।

उद्धव—(**आश्चर्य से**) आप तो किसीके देश पर आक्रमण करने के विरुद्ध थे न!

बलराम—हाँ, इसी कारण देश छोड़ दिया और मगध पर आक्रमण न किया।

कृष्ण—पर, यह आक्रमण ही धर्म है।

उद्धव—यह कैसे?

बलराम—इसमें भी कोई गूढ़ रहस्य होगा।

कृष्ण—मैं उसका देश जीतने के लिए आक्रमण नहीं कर रहा हूँ।

उद्धव—तब फिर?

कृष्ण—जिन बहुत-सी राजकुमारियों को उसने अपनी बन्दी-शाला में रोक रखा है, उनका सन्देश आया है। उन्होंने कहलाया है कि वे अपनी रक्षा अब केवल एक मास तक ही कर सकेंगी, इसके पश्चात् या तो उन्हें उस राक्षस को, जिसे वे हृदय से घृणा करती हैं, अपना आत्म-समर्पण करना होगा, या विष खाकर मर जाना होगा। उन बेचारी अबलाओं के रक्षणार्थ यह आक्रमण अनिवार्य है।

बलराम—अबलाओं की रक्षा तो प्रथम कर्तव्य है।

उद्धव—अवश्य, अवश्य।

कृष्ण—तो चलिए, इसीका प्रबन्ध कीजिए।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पांचवां दृश्य

स्थान—भौमासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर के राज-प्रासाद का एक कक्ष

समय—सन्ध्या

[कक्ष उसी प्रकार है जैसा अयोध्या के राज-प्रासाद का कक्ष था। कक्ष की भित्तियों आदि का रंग उस कक्ष के रंग से भिन्न है। द्वारों से बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है, जो डूबते हुए सूर्य की प्रभा से आलोकित है। कक्ष में सोलह राज-कन्याएं बैठी हुई बातें कर रही हैं।]

एक—देखा, करुणानिधान कृष्ण को देखा; शरणागत-वत्सल श्रीकृष्ण को देखा !

दूसरी--हाँ, सखि, हमारा सन्देश पाते ही वे दौड़े आये !

तीसरी—और पापी की जड़ तो मानों पत्थर पर रहती है ।

चौथी—हाँ, ऐसे बलवान भौमासुर का संहार करने में कृष्ण को विलंब न लगा ।

पाँचवीं—पर, सखि, हमने उन्हें निरर्थक ही कष्ट दिया, हमारे भाग्य में तो दोनों प्रकार से मरण ही लिखा था। पर-घर में रही हुई हमको समाज में कौन ग्रहण करेगा ?

छठवीं—हां, सखि, हम चाहे कैसी ही सती-साध्वी हों, पर, स्त्री का पर-घर में रह जाना ही उसके जीवन को नष्ट कर देने के लिए यथेष्ट है ।

सातवीं—पर, अब हम सुख से मरेंगी ।

आठवीं—हाँ, पापी का तो नाश हो गया ।

नवीं—अब चिन्ता नहीं, हम भी मर जायें ।

दसवीं—वह न मरता तो हमें भी मरने में दुःख रहता ।

ग्यारहवीं—फिर इस समय मरने में दूसरा आनन्द यह है कि जिनके गुणानुवाद इतने दिन तक सुन रही थीं, उन द्वारकाधीश के दर्शन भी हो गये ।

बारहवीं—अहा ! उनका कैसा रूप है !

तेरहवीं—और कैसी वाणी !

चौदहवीं—और कैसा धीरोदात्त स्वभाव !

पन्द्रहवीं—सभी कुछ अनुपम है !

सोलहवीं—क्यों, सखि, वे दया के सागर, पतितों के पावन द्वारकाधीश ही हमें न ग्रहण कर लेंगे ?

सब—आहा ! यदि यही हो जाय तो क्या पूछना है !

पहली—पर वे हमें समाज की मर्यादा तज क्यों ग्रहण करने लगे ।

दूसरी—और फिर सबको ?

तीसरी—फिर, सखि, विलम्ब क्यों ? हीरे की एक-एक मुद्रिका तो सबके पास है न ?

चौथी—हाँ, सबके ।

पाँचवीं—तो चलो, उनको ही खाकर, इस असार संसार, इस पापी संसार, इस क्रूर संसार को छोड़ दें ?

छठवीं—नहीं, नहीं, चलो, ब्रह्मपुत्र की विशाल वारिराशि में डूब मरें ।

सातवीं—हाँ, हाँ, यह ठीक है ।

सब—चलो ।

[सब खड़ी होती हैं । कृष्ण का प्रवेश । उन्हें देख सब सिर नीचा कर लेती हैं ।]

कृष्ण—राजकुमारियो, मैंने तुम लोगों के भाषण सुन लिए हैं । मैं जानता हूँ कि आज का समाज तुम्हें उचित विधि से ग्रहण करने को प्रस्तुत न होगा । यदि तुमने प्राण ही दे दिये तो फिर भौमासुर के और इतने प्राणियों के संहार से

क्या लाभ हुआ ? तुम्हारी इच्छा भी मैंने सुन ली है । सुन्दरियो, मेरी इच्छा एक विवाह करने की भी न थी, पर मैं देखता हूँ कि एक के स्थान पर न जाने मुझे कितने विवाह करने पड़ रहे हैं। जो कुछ हो, लोक-हितार्थ, लोक-सुखार्थ जो कुछ भी सम्मुख आयेगा, शक्ति के अनुसार किये बिना मन ही न मानेगा । मैं जानता हूँ कि तुम सब शुद्ध हो, समाज की टीका की मुझे चिन्ता नहीं है, तुम्हारी इच्छानुसार में तुम सबों को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ ।

सब—(आश्चर्य से) अहो ? हमारे ऐसे भाग्य ! हमारे ऐसे भाग्य !

एक—यदि चाहें तो हमारी शुद्धता की आप परीक्षा कर लें, करुणेश ।

कृष्ण—नहीं, सुन्दरियो, नहीं, मेरा अन्तःकरण कहता है कि तुम सब शुद्ध, नितान्त शुद्ध हो, मुझे परीक्षा की आवश्यकता नहीं है ।

यवनिका

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—इन्द्रप्रस्थ में द्रौपदी के प्रसाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा और द्वारका के राज-प्रासादों की थी। रंग उनसे भिन्न है। द्रौपदी और रुक्मिणी खड़ी हुई बातें कर रही है। द्रौपदी की अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है। ऊँची, सुडौल, प्रौढ़ा स्त्री हैं, वर्ण साँवला होने पर भी सौंदर्य की कमी नहीं है। रुक्मिणी की अवस्था अब तीस वर्ष के लगभग दिखती है। द्रौपदी पीत वर्ण के रेशमी वस्त्र और रुक्मिणी नील वर्ण के रेशमी वस्त्र पहने हैं। दोनों रत्न-जटित आभूषण धारण किये हैं।]

रुक्मिणी—मेरे विवाह को लगभग पन्द्रह वर्ष हो गये। इस दीर्घ काल में आपका राज्य और आपकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यदुनाथ को जितना चिन्तन करते देखा उतना किसी विषय पर नहीं।

द्रौपदी—उनकी जितनी कृपा हम लोगों पर है, उससे हम कभी उऋण नहीं हो सकते। सखि, मुझे वे भगिनी मानते एवं कृष्णा

कहते हैं और गाण्डीवधारी को सखा। फिर जितना कोई और सहोदर अपने सहोदर पर प्रेम नहीं करता, उतना वे हम पर करते हैं; मुझ पर उनका सुभद्रा से भी अधिक स्नेह है। हमारा राजसूय-यज्ञ उनके कारण ही सफल हो सका। ज्येष्ठ पाण्डव का नियम है कि उन्हें द्यूत खेलने के लिए जो बुलाता है उससे वे अवश्य द्यूत खेलते हैं।

रुक्मिणी—ज्येष्ठ पाण्डव ही क्यों; द्यूत आधुनिक काल का सर्वश्रेष्ठ खेल माना जाता है और कोई भी क्षत्रिय द्यूत का निमंत्रण अस्वीकृत करना निंदनीय मानता है।

द्रौपदी—हाँ, परन्तु ज्येष्ठ पाण्डव में तो एक और दोष है कि हारते समय उन्हें फिर कुछ दिखायी ही नहीं देता। शकुनी के कपटाचार के कारण जब वे सर्वस्व हार गये तब मुझे भी द्यूत में लगा दिया और जब मुझे भी हार गये तब मेरी लज्जा कृष्ण के कारण ही बची, नहीं तो मैं भरी सभा में नग्न कर ही डाली जाती। हमारे बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास में उन्होंने हमें प्रकट रूप से ही सहायताएं नहीं दीं, वरन् गुप्त रूप से भी अनेक दीं। कुरुवंश का यह युद्ध न होने पावे, इसके लिए उन्होंने क्या कम उद्योग किया? स्वयं दूत का कार्य स्वीकार किया, दुर्योधन उन्हें बन्दी बना लेगा, यह समाचार फैला हुआ था, पर इतने पर भी वे कौरव-सभा में गये। दुर्योधन ने उन्हें बन्दी करने का भी कम प्रयत्न नहीं किया, पर हमारा सौभाग्य कि वे बच गये।

रुक्मिणी—उनके बन्दी होने के प्रयत्न का समाचार फैलने से

वे कौरव-सभा में न जायँ यह तो असम्भव था। विघ्न-बाधाओं की उपेक्षा तो उनका स्वभाव ही है, सखि, फिर सब कुछ यदुनाथ निष्पक्ष होकर करते हैं।

द्रौपदी—निष्पक्ष होकर करते हैं, या निष्पक्ष बनते हैं, सो तो कहना कठिन है, सखि, पर निष्पक्षता दर्शाते अवश्य हैं। युद्ध में हमारी ओर होना ही था, पर इसमें भी कैसी निष्पक्षता दिखायी।

रुक्मिणी—यह मुझे ज्ञात नहीं है?

द्रौपदी—यह तो अभी की बात है। तुम जानती ही हो कि आधुनिक काल में युद्ध के निश्चित नियमों के अनुसार जो पक्ष पहले रण-निमंत्रण देने के लिए पहुँचता है उसी पक्ष का युद्ध में साथ देना पड़ता है।

रुक्मिणी—हाँ, यह तो जानती हूँ।

द्रौपदी—भैया को रण-निमंत्रण देने दुर्भाग्य से दुर्योधन पहले पहुँचे, पर, कौन्तेय के पहुँचने के पूर्व आप उनसे मिलनेवाले कब थे? सो गये। जब कौन्तेय पहुँच गये तब उठे और बोले—आ गये, धनंजय? दुर्योधन ने तत्काल कहा कि पहले मैं आया तो आप कहने लगे मैंने पहले कौन्तेय को देखा है।

रुक्मिणी—सच बात तो यह है कि उनकी सदा धर्म, न्याय और सत्य-पक्ष से एवं दुखियों से सहानुभूति रहती है। जिस विधि से भी बने, वे इनका कल्याण करना चाहते हैं।

द्रौपदी—हाँ, सखि, सौ बात की एक बात यह है। पाण्डव-पक्ष को वे धर्म, न्याय और सत्य का पक्ष होने के कारण ही सहायता

देते हैं और दुःख की तो बात ही न करो। हमने जितने दुःख पाये हैं, उतने तो संसार में कदाचित ही किसीने पाये हों। लाक्षा-भवन में हम जलाये गये, दूसरे पाण्डव को विष खिलाया गया, बल से हमारा राज्य हरण कर बारह वर्ष तक हमें वन-वन और अरण्य-अरण्य घुमाया गया, एक वर्ष तक अज्ञात रहने का हमसे वचन लिया गया और यदि इस अज्ञात रूप से रहने को हम निभा न पाते तो फिर बारह वर्ष का वन और एक वर्ष का अज्ञात-वास; फिर चूके तो फिर वही। जन्मभर क्या वह वनवास और अज्ञातवास समाप्त होनेवाला था? धर्मराज को तुम जानती ही हो; मनसा, वाचा, कर्मणा वे असत्य को पास नहीं फटकने देते। कौरव जानते थे कि भारतवर्ष में पाण्डवों का अज्ञात रहना असंभव है।

रुक्मिणी—असम्भव नहीं तो कम से कम इसके नीचे की सीढ़ी तो अवश्य थी।

द्रौपदी—हाँ, सखि, इसमें सन्देह नहीं। अज्ञातवास का एक-एक मुहूर्त्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक क्षण-लव जिस मानसिक और शारीरिक कष्ट से हमने बिताया है, वह हम आजन्म न भूलेंगे। हम-सा दुखिया कोई न होगा, कोई नहीं।

रुक्मिणी—और इतने दुःख पाने के पश्चात् भी यह युद्ध होगा।

द्रौपदी—क्या किया जाय, विवशता है। भैया ने पाँच गाँव तक माँगे, पर जब दुर्योधन ने सुई की नोक-बराबर पृथ्वी भी देना

अस्वीकार कर दिया, तब भैया ने ही कह दिया कि अब युद्ध न होना अधर्म होगा।

रुक्मिणी—हाँ, अधर्म, अन्याय, असत्य, अत्याचार की कोई सीमा है! आश्चर्य तो यह है कि कुरु-देश के महारथी, भीष्म, द्रोण, कृप आदि सब के सब अब भी दुर्योधन की ओर से ही युद्ध करेंगे।

द्रौपदी—इसमें आश्चर्य क्या है, सखि? जब दुर्योधन ने दुःशासन से भरी सभा में मुझे नग्न करने को कहा था, तब भी तो वे सब उसी सभा में उपस्थित थे, पर किसीके मुख से एक शब्द भी न निकला।

रुक्मिणी—मुझे बड़ा खेद है, सखि, कि यदुनाथ आपके पक्ष में होने पर भी युद्ध न करेंगे।

द्रौपदी—इसके लिए क्या किया जा सकता है? वे युद्ध को अक्षम्य, हत्यामय काण्ड मानकर सदा को छोड़ चुके हैं। पर इससे क्या? वे हमारे पक्ष में हैं, इसीसे हमारी विजय होगी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस पक्ष में वे हैं, वह पक्ष हार ही नहीं सकता। फिर उन्होंने हमारे लिए सूत का, निम्न-श्रेणी का कार्य करना तक स्वीकार किया है। उनके सारथी रहने से धनंजय को कोई भय नहीं है।

रुक्मिणी—एक सबसे बड़ा सुयोग यह हो गया कि मेरे जेठ बलरामजी के हाथों नैमिषारण्य के सूत पुराणी की हत्या हो गयी और वे तीर्थ-यात्रा को चले गये, नहीं तो इस समय बड़ी कठिनाई हो जाती। दुर्योधन उनका शिष्य है और उनकी सदा ही दुर्योधन से

सहानुभूति रहती है।

द्रौपदी—यदि यह न भी होता तो इसके लिए भी कृष्ण कोई न कोई युक्ति निकाल लेते। **(नेपथ्य में वाद्य का शब्द होता है।)** प्रातःकाल का वाद्य बज रहा है, कुरुक्षेत्र में इसी समय युद्ध आरंभ हुआ होगा। आज ही युद्ध का प्रथम दिवस है।

रुक्मिणी—तो चलो सखि, हम जगदम्बा से पाण्डवों के विजय की मंगल-कामना करें।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र का मैदान

समय—प्रातःकाल

[दूर दो सेनाएं दिखती हैं, जिनके कवच और शस्त्र प्रातःकाल के प्रकाश में चमक रहे हैं। अर्जुन का रथ खड़ा हुआ है। रथ में चार घोड़े जुते हुए हैं। इसकी बनावट पहले अंक के तीसरे दृश्य के रथ के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि इसमें छतरी नहीं है। ध्वजा एक पतले स्तम्भ पर, सामने की ओर लगी है और उस पर बन्दर का चित्र बना है। कृष्ण सारथी के स्थान पर बैठे हैं। अर्जुन रथी के स्थान पर आसीन हैं। सामने धनुष रखा है और अर्जुन का मुख उदासीन भाव से झुका हुआ है। अर्जुन की अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष की है। वर्ण साँवला है, परन्तु मुख सुन्दर और शरीर गठा हुआ है। वे

आभूषण और वस्त्रों से सुसज्जित हैं। शरीर पर लोह कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हुए हैं। कवच और शिर-स्त्राण पर स्वर्ण भी लगा है। अर्जुन हाथों में गोधांगुलिस्त्राण भी पहने हैं। कृष्ण की अवस्था भी लगभग पैंतालीस वर्ष की है, पर मुख और शरीर वैसा ही है। सारे वस्त्र श्वेत हैं, सिर खुला हुआ है, कोई आभूषण नहीं है और न पास में कोई शस्त्र ही है। सन्नाटा छाया हुआ है। कृष्ण अर्जुन की ओर देख रहे हैं। कुछ देर में अर्जुन धनुष को उठाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं और नीचे मुख को मुसकराते हुए ऊपर उठा कृष्ण की ओर देखते हैं।]

कृष्ण—बहुत शीघ्र, मित्र, बहुत ही शीघ्र तुम्हारे अद्भुत ज्ञान का अन्त हो गया। तुम्हारे मुख के भाव तो फिर बदल रहे हैं, अंग फिर दृढ़ हो रहे हैं, तुम तो फिर गाण्डीव उठा रहे हो। वह रोमांच, वह स्वेद, वह शरीर की शिथिलता कहाँ गयी, धनंजय !

अर्जुन—(मुसकराते हुए) तुम्हारा यह निःशस्त्र स्वरूप देख-कर तो वह ज्ञान और बढ़ गया था, संन्यास लेने की प्रवृत्ति और अधिक हो गयी थी।

कृष्ण—(मुसकराकर) मैंने तो संन्यास नहीं लिया है, कौन्तेय। हाँ, प्रत्येक के मन की पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ होती हैं और उन्हींके अनुसार उनके कार्य होते हैं।

अर्जुन—मानता हूँ मित्र, कि तुम्हारी अवस्था तक पहुँचने में अभी मुझे न जाने कितना समय लगेगा। केवल सुन लेने, कह देने

अथवा समझ लेने और समझा देने से वह स्थिति नहीं आ सकती; उसके लिए सम-भाव के अनुभव की आवश्यता होती है।

कृष्ण—तो मानते हो न कि वह मोह था, ज्ञान नहीं ?

अर्जुन—अवश्य, वह ज्ञान नहीं, मोह था।

कृष्ण—और मेरी कही हुई समस्त बातें तुम्हारी समझ में बैठ गयीं न ?

अर्जुन—कितनी सुन्दरता से, सो संक्षेप में कहे देता हूँ, सुन लो—मोह सदा क्षणिक रहता है ज्ञान के सदृश स्थायी नहीं। यों तो संसार में एक चिउँटी की हत्या भी निन्दनीय है, परन्तु सद-सिद्धान्तों की हत्या के सम्मुख अक्षौहणियों की हत्या भी तुच्छ वस्तु है। संसार में पृथकत्व केवल स्थूल दृष्टि से देखने से जान पड़ता है, यथार्थ में सभी एक हैं और सबमें एक शक्ति का ही संचार हो रहा है। आत्मा अजर एवं अमर है, अतः शरीर के नाश से उसका कोई संबन्ध नहीं, और यदि आत्मा नहीं है और शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतना की उत्पत्ति होती है, तो भी शरीर के नाश को कोई महत्त्व नहीं क्योंकि नित्य असंख्यों शरीर उत्पन्न और असंख्यों नष्ट होते हैं। जब तक शरीर है तब तक कर्म करना ही होगा, क्योंकि साँस लेना भी कर्म है और यदि कर्म से छुट्टी पाने के लिये आत्म-हत्या भी की जाय तो वह भी एक निन्दनीय कर्म होगा। मैं कर्म निष्काम होकर, फलेच्छा-रहित होकर करने को प्रस्तुत हूँ। सद्सिद्धान्तों की रक्षा और जगत् का स्थायी हित इसी-से हो सकता है, यह मैं मानता हूँ, कृष्ण। अब तुम्हीं कहो, तुम्हारी

सब बातें मेरी समझ में बैठ गयीं या नहीं ?

कृष्ण—(मुसकराकर) तो अब रथ आगे बढ़ाया जाय ?

अर्जुन—(गाण्डीव धारणकर तथा देवदत्त शंख को उठा) अवश्य।

[कृष्ण रथ चलाते हैं। अर्जुन शंख बजाता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[नेत्र-रहित राधा का कृष्ण-वेश में करतालें बजाते और गाते हुए प्रवेश। राधा अब क्षीणकाय नहीं है। नेत्र चले गये हैं, पर पलकों के चारों ओर आँसू दिखते हैं।]

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे को मीठो फल-रस अन्तर्गत ही भावै॥

तुही पंच तत्व, तुही सत्व, रज, तम तुही,
थावर औ जंगम जितेक भाओ भव में।
तेरे ये बिलास लौटि तोही में समान्यो कछु,
जान्यो न परत पहिचान्यो जब जब मैं॥
देख्यो नहीं जात तुही देखियत जहाँ-तहाँ,
दूसरो न देख्यो कृष्ण तुही देख्यो अब मैं।
सबकी अमर मूरि, मारि सब धूरि कहै,

दूर सब ही तें भरपूरि रह्यो सबमें ॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर, जो जाने सो पावै ॥
अविगत०।

अग, नग, नाग, नर, किन्नर, असुर, सुर,
प्रेत, पसु पच्छी, कोटि कोटिन कढ्यो फिरै।
माया, गुन, तत्व उपजत, बिनसत सत्व,
काल की कला को ख्याल खाल में मढ्यो फिरै॥
आप ही भखत, भख, आप ही अलख लख,
कहूँ मूढ़, कहूँ महा पंडित पढ्यो फिरै।
आप ही हथ्यार, आप मारत, मरत आप,
आप ही कहार, आप पालकी चढ्यो फिरै ॥
रूप-रेख गुन जाति जुगुति बिनु,
निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम तदपि जाने वह,
प्रेम रूप ह्वै कर जो ध्यावै ॥
अविगत०।

[बलराम का प्रवेश।]

बलराम--राधे, आपसे यह बलराम जाने के लिए आज्ञा लेने आया है।

राधा—इतने शीघ्र क्यों, देव?

बलराम—तीर्थ-यात्रा के निमित्त ही मैं यहाँ आया था, देवि।

आप लोगों के दर्शन की भी अभिलाषा थी और कुछ दिन रहता, परन्तु कुरुक्षेत्र में कौरव-पाण्डवों का युद्ध आरम्भ हो गया है। भीष्म पितामह आहत हो धराशायी हैं और द्रोणाचार्य एवं महारथी कर्ण देवगति को प्राप्त हो चुके हैं। यह सुना है, भगवती, कि युद्ध में लड़ते हुए इनका संहार नहीं हुआ, परन्तु कृष्ण ने कौशल से एक-एक को निःशस्त्र कराकर नष्ट कराया है। यदि युद्ध इसी प्रकार चला तो सारे कुरुवंश का नाश हो जायगा। उसे अधर्म से नष्ट कराने के कलंक का टीका, युद्ध छोड़ देने पर भी, कृष्ण के सिर लगेगा। मुझे उस ओर तीर्थयात्रा भी करनी है, यात्रा भी हो जायगी और इस नाशकारी युद्ध के निवारण का भी उद्योग करूँगा।

राधा—(**मुसकराकर**) कृष्ण के मस्तक पर कोई कलंक का टीका लग सकता है, यह तो मैं नहीं मानती, क्योंकि उनके कार्य की विधि चाहे कुछ भी क्यों न हो, उनके हर कार्य का उद्देश्य लोक-हित ही होता है पर फिर भी यदि युद्ध का हत्या-काण्ड आपके उद्योग से रुक सके, तो अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। (**कुछ ठहरकर**) आगामी सूर्य-ग्रहण के अवसर पर तो व्रजवासी भी कुरुक्षेत्र जावेंगे, तब तक तो आप लोग भी कुरुक्षेत्र ही में रहेंगे?

बलराम—अब सूर्य-ग्रहण के दिवस ही कितने हैं। सारा देश जब सूर्य-ग्रहण पर कुरुक्षेत्र पहुँचेगा, तब तक हम लोग, जो वहाँ पहले से ही रहेंगे, ग्रहण के पूर्व कुरुक्षेत्र क्यों छोड़ने लगे, देवि।

राधा—पर, सुना है, इस युद्ध के कारण इस बार वहाँ बहुत कम लोग जायँगे।

बलराम—उसके पूर्व या तो युद्ध समाप्त हो जायगा, या सन्धि हो जायगी। ऐसा भयंकर युद्ध बहुत समय तक नहीं चल सकता। (**कुछ ठहरकर**) तो चलता हूँ, देवि, इन थोड़े दिनों में ही व्रज की जैसी परिस्थिति देखी, वह आजन्म विस्मृत न होगी। आपने व्रज में कृष्ण-प्रेम का अद्वितीय स्रोत बहाया है, कृष्ण-विरह से कृष्ण के प्रति जिस अद्भुत प्रेम की उत्पत्ति हुई है, वह केवल कृष्ण की ही नहीं, सारे विश्व की सम्पत्ति हो गयी है। यह धन कदाचित् व्रज का अटूट धन होगा और सदा ही व्रज के कोष में स्थिर रहेगा। धन्य हैं आप, राधे, धन्य हैं! किसने आज-पर्यन्त आप-सा आनन्द पाया है! कौन इस प्रेम में आँसू बहा-बहा, चर्मचक्षुओं को खो, हृदय-चक्षु खोल सका है! कौन अपने को अपने प्रेमी के, एवं सारे विश्व को अपने प्रेमी के रूप में देख सका है! धन्य, सचमुच धन्य है आपको और धन्य है आपके इस प्रेम-मार्ग को!

राधा—(**अंधे नेत्रों से अश्रु बहाते हुए**) मैं क्या धन्य हूँ, मैं क्या धन्य हूँ और यदि मैं धन्य हूँ, तो जिसने अपने को, अपने हृदय को, इस प्रेम में सराबोर कर दिया है, वे भी धन्य हैं, देव!

बलराम—(**राधा के चरण स्पर्शकर**) तो आज्ञा माँगता हूँ, प्रेमरूपिणी।

राधा—कल्याण हो आपका और कल्याण हो इस कृष्ण-रूप समस्त विश्व का।

[**बलराम का प्रस्थान। राधा फिर गाती है।**]

प्रेम प्रेम तें होय, प्रेम तें पर ह्वै जइए ।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिए ।
प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय ।
जो जन जाने प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय ।
प्रेम प्रेम तें होय० ।

प्रेम-रूप दर्शन अहो, रचै अजूबो खेल ।
या में अपनो रूप कछु, लखि परिहै अनमेल ।
प्रेम प्रेम तें होय० ।

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यो जात बिसेस ।
सोइ प्रेम जेहि जानि कै, रहि न जात कछु सेस ।
प्रेम प्रेम तें होय० ।

प्रेम-फाँस में फँसि मरै, सोई जिये सदाहिं ।
प्रेम-मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहिं ।
प्रेम प्रेम तें होय० ।

जग में सब तें अधिक अति, ममता तनहिं लखाय ।
पै या तनहू तें अधिक, प्यारो प्रेम कहाय ।
प्रेम प्रेम तें होय० ।

एकै निस्चय प्रेम को, जीवन-मुक्ति रसाल ।
साँचो निस्चय प्रेम को, जिहि तें मिलैं गुपाल ।
प्रेम प्रेम तें होय० ।

[गाते और आँसू बहाते हुए राधा का प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र की रणभूमि

समय—सन्ध्या

[चारों ओर मनुष्यों, हाथी, घोड़ों की लाशें, कटे सिर, हाथ, पैर आदि, टूटे रथ और आयुध पड़े हैं। सन्ध्या का मन्द प्रकाश फैला हुआ है। कृष्ण और अर्जुन खड़े दाहनी ओर देख रहे हैं।]

कृष्ण—दुर्योधन के संहार से आज इस महायुद्ध का अन्त और पाण्डवों की विजय हो जायगी।

अर्जुन—इन सबके कारण तुम हो, कृष्ण।

कृष्ण—(अर्जुन की ओर सिर घुमा) फिर वही, तुम कारण और मैं कारण; अरे, कोई कारण नहीं है; सब निमित्तमात्र हैं। यदि इतने उद्योग के पश्चात् भी कौरव ही जीत जाते तो भी मेरे हृदय की तो वही अवस्था रहती जो अब है। (फिर सामने की ओर देखते हुए कुछ ठहरकर) पर, देखो, अर्जुन, तुम्हारा अग्रज यह भीमसेन बड़ा मूर्ख है; अभी भी दुर्योधन से शास्त्रोक्त मल्ल-युद्ध कर रहा है। प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण-कौशल दिखा रहा है। इतना समझा दिया था कि दुर्योधन का उरुदण्ड बड़ा निर्बल है, एक ही गदा में काम होता था। (कुछ ठहरकर) दुर्योधन बलराम का शिष्य है, भीम इस प्रकार लड़ा तो हारकर ही रहेगा। (कुछ ठहरकर) अब हारने ही लगा तो देखो, इधर-उधर चकपकाकर देख रहा है। मैं फिर संकेत करता हूँ।

[कृष्ण पैर ऊँचाकर हाथ जाँघ पर मारते हैं। बलराम का प्रवेश।]

बलराम—कृष्ण ! कृष्ण !

[कृष्ण बलराम का शब्द सुन उस ओर देख आगे बढ़ते हैं और उनके चरण-स्पर्श करते हैं। अर्जुन भी यही करते हैं।]

कृष्ण—आप कब पधारे, आर्य !

बलराम—अभी आ रहा हूँ। यह संकेत काहे का हो रहा था ? दुर्योधन की भी हत्या करानी है क्या ?

कृष्ण—(मुसकराकर) आप तो तीर्थ-यात्रा में हैं न, तात ? इन सब प्रपंचों से आपको क्या प्रयोजन है ?

बलराम—(क्रोध से) मुझसे एक सूत की हत्या हो गयी, इसका निवारण मैं तीर्थ-यात्रा करके करूँ और तुम यहाँ पूज्यपाद भीष्म पितामह, गुरुदेव द्रोण आदि को निःशस्त्र कराकर उनका संहार कराओ। दुर्योधन की भी एक प्रकार से हत्या करने के लिए भीम को संकेत करो।

कृष्ण—(मुसकराकर) आर्य, आपने सूत की हत्या क्रोध के आवेश में आकर की थी, उसका आपके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ा। मैंने क्रोध या किसी प्रकार के आवेश में आकर कुछ नहीं किया। जो कुछ मैंने किया—धर्म, न्याय, सत्य की विजय के लिए कर्तव्य समझकर किया और वह भी फलेच्छा-रहित हो; अतः मेरे हृदय में किसी बात का कोई विषाद ही नहीं, तात। जिनकी आप हत्या हुई कहते हैं, उन पर मेरा इतना ही प्रेम था, जितना पाण्डवों पर है।

पितामह, गुरुदेव आदि का मुझ पर भी अत्यधिक स्नेह था।

बलराम—(और भी क्रोध से) धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम! वाह रे तुम्हारा धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम!

कृष्ण—(दाहनी ओर देखते हुए बलराम का क्रोध शान्त न होते देख) पर, आर्य, अब तो आपका क्रोध भी निरर्थक है! दुर्योधन को भी भीम ने पछाड़ डाला।

बलराम—(अत्यंत क्रोध से) दुर्योधन मेरा शिष्य है, इसलिए मैं उसका पक्ष लेकर तुमसे विवाद नहीं कर रहा था। मेरे पहुँचने के पूर्व ही कौरव तो नष्ट हो गये थे। एक दुर्योधन बचा था। उससे भी भीम का युद्ध चल रहा था। मैं चाहता, तो भी उसे कैसे बचाता? यदि वह बच भी जाता तो अकेला बचता, जैसा न बचता। पर मुझे तुम्हारे ऊपर खेद होता है, कृष्ण, तुम्हारे ऊपर। युद्ध छोड़ने के पश्चात् भी तुमने इस युद्ध में जो अधर्म किये हैं, निःशस्त्र वीरों, गुरुजनों और ब्राह्मणों की जिस प्रकार हत्या करायी है, उस पर मुझे खेद होता है। तुम्हारे जीवन में इस युद्ध का जो वृत्त लिखा जायगा, उसमें तुम्हारा ऐसा नीच चित्र खिंचेगा, ऐसा अन्यायपूर्ण चित्र अंकित होगा, ऐसा अधर्ममय चित्र दिखेगा कि सारे यदुवंश पर उसका लांछन रहेगा। युद्ध तो समाप्त हो ही गया है। शान्ति के समय जब तुम अपनी इन कृतियों पर विचार करोगे, तब तुम्हें स्वयं खेद होगा, दुःख होगा, शोक होगा, क्लेश होगा, पश्चात्ताप होगा। जीवित रहते हुए तुम सदा इससे यंत्रणा पाओगे और मरने के पश्चात् भी तुम्हें सुख न मिलेगा। हा! निःशस्त्र गुरुजनों की हत्या! ब्राह्मणों की हत्या!

कृष्ण—(हँसकर) आर्य, इस समय आप मुझपर बहुत अधिक अप्रसन्न हैं और मुझे आपके इस भाषण पर इतनी हँसी आ रही है कि आप और अप्रसन्न हो जायँगे; पर क्या करूँ, वह रुकती ही नहीं।

[कृष्ण ज़ोर से हँस पड़ते हैं।]

यवनिका

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र में पाण्डवों के प्रासाद की दालान

समय—संध्या

[वही दालान है जो चौथे अंक के पहले दृश्य में थी। द्रौपदी और रुक्मिणी खड़ी हुई बातें कर रही हैं।]

द्रौपदी—(आँसू भरकर) क्या कहूँ, बार-बार हृदय भर आता है। भैया के और तुम्हारे जाने के पश्चात् हमारे दिन कैसे निकलेंगे, सखि? और, अब जाने को दिन ही कितने रह गये हैं?

रुक्मिणी—क्या मुझे आपका स्मरण न आयेगा? पर, क्या करूँ, जाना तो पड़ेगा ही। फिर जब आप स्मरण करेंगी, तभी हम लोग आपकी सेवा में उपस्थित हो जायंगे।

द्रौपदी—अब तक तो विपत्ति के दिन थे, इसलिए नित्य ही भैया का स्मरण करती थी, परन्तु सुख के दिनों में सुहृदों को कौन कष्ट देता है? इस महासंग्राम में भी वे न होते तो न जाने युद्ध में हमारी क्या दशा होती? उनके बिना धनंजय का मोह कौन नाश कर सकता था? कौन उनके बिना भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुःशासन,

दुर्योधन आदि महारथियों के निधन कराने की शक्ति रखता था ? किसमें जयद्रथ को मरवा कौन्तेय की प्रतिज्ञा सत्य कराने की सामर्थ थी ? कौन अभिमन्यु और मेरे पाँचों पुत्रों की हत्या के हमारे दुःख को शान्त कराने का साहस कर सकता था और किसको, धर्मराज की ग्लानि को, जो उन्हें भीष्म, द्रोण आदि की ऊपर से दिखनेवाली निःशस्त्र हत्याओं से हुई थी, निवारण करने में सफलता मिल सकती थी ? फिर कौरव-पक्ष में भी कौन पूज्यपाद धृतराष्ट्र और गांधारी को सान्त्वना देने की सामर्थ रखता था ? पर, सखि, अब तो सूर्य ग्रहण होते ही परसों तुम और भैया चले जाओगे । अच्छा होता, यदि हम सदा ही विपत्ति में रहते, फिर तो कृष्ण स्वयं ही जाने का कभी नाम न लेते ।

[द्रौपदी के आँसू टपकते हैं । कृष्ण का प्रवेश । कृष्ण व्रज का शृङ्गार किये हुए हैं ।]

कृष्ण—क्यों, कृष्णा, काहे का दुख हो रहा है, मेरे जाने का ? संसार में दुःख तो किसी बात का करना ही नहीं चाहिए । अरे, एक दिन तो यह संसार ही छोड़ना है, फिर मुझे तो जब बुलाओगी, आ जाऊंगा ।

द्रौपदी—(आँसू पोंछते हुए) तुम्हारा-सा हृदय सबका नहीं होता, भैया । **(कृष्ण का शृङ्गार देख)** पर यह आज कैसा अद्भुत वेश है ?

कृष्ण—यह व्रज का वेश है, कृष्णा । व्रजवासी सूर्य-ग्रहण का स्नान करने कुरुक्षेत्र आये हैं । नंद बाबा, यशोदा मैया तथा अनेक

गोप-गोपियों से तो मैं मिल आया हूँ, पर अब राधा से मिलना है। इस वेश बिना यदि मैं राधा से मिलूंगा तो उसे कष्ट होगा।

रुक्मिणी—एक बार जब मैंने इन्हें व्रज का वेश दिखाने को कहा था, तब इन्होंने नहीं माना, पर उस आभीर-रमणी को तो अवश्य प्रसन्न करेंगे।

कृष्ण—तुम उसका वृत्त नहीं जानतीं, रुक्मिणी। मैं उसके निकट आज चालीस वर्ष से नहीं हूँ, परन्तु फिर भी, इस विश्व में मुझसे उतना प्रेम कोई नहीं करता, जितना वह करती है।

रुक्मिणी—मैं भी नहीं, नाथ?

कृष्ण—हाँ, तुम भी नहीं।

द्रौपदी—और मैं भी नहीं, भैया?

कृष्ण—तुम भी नहीं, कृष्णा।

द्रौपदी—तब तो मैं उनके दर्शन अवश्य करूंगी।

रुक्मिणी—और मैं भी।

कृष्ण—अच्छी बात है, तो चलो, मैं वहीं जा रहा हूँ। आज उन्होंने होली न होते हुए भी होलिकोत्सव मनाया है।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध तड़ाग का तट

समय—संध्या

[तड़ाग के किनारे सघन वृक्ष हैं। तड़ाग का नीर और वृक्षों

के ऊपरी भाग सूर्य की सुनहरी किरणों में जगमगा रहे हैं। कृष्ण-रूप में राधा वंशी बजा रही हैं। गोप-गोपी गा रहे हैं। गुलाल उड़ रही है।]

ऋतु फागुन नियरानी, कोई पिय से मिलाओ,
ऋतु फागुन नियरानी।
सोइ सुंदर जाके पिया ध्यान है, सोइ पिय के मनमानी।
खेलत फाग अंग नहीं मोड़ै, पियतम सों लिपटानी॥
इक-इक सखियाँ खेल घर पहुँचीं, इक-इक कुल अरुझानी।
इक-इक नाम बिना बहकानी, हो रहि ऐंचातानी॥
पिय को रूप कहा लगि बरनौं, रूपहि माँहि समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके, तन-मन सभी भुलानी॥
यों मत जान यहि रे फाग है, यह कछु अकथ कहानी।
होली राधा-माधव की तो, बिरले ही ने जानी॥

[कृष्ण, द्रौपदी और रुक्मिणी का प्रवेश।]

कृष्ण—राधा, कृष्ण-रूपिणी राधा!

राधा—(इधर-उधर दौड़, टटोलते-टटोलते कृष्ण को पाकर कृष्ण के गले में हाथ डाल) कृष्ण, प्यारे कृष्ण, कृष्ण!

कृष्ण—नेत्र चले गये, राधा!

राधा—हाँ, चर्म-चक्षु चले गये, सखा, पर हृदय-चक्षु खुल गये हैं। लगभग पैंतीस वर्षों में यह अनुभव कर सकी, जिसे तुमने व्रज छोड़ने के समय कहा था—मैं ही कृष्ण हूं, सारा विश्व कृष्ण है। सुख, सर्वत्र सुख है। तुमने मुझे ऐसा सुखी बना दिया, सुख का

ऐसा पूर हृदय पर चढ़ा दिया कि मैं सारे संसार को सुख बाँट सकती हूँ।

कृष्ण—अनेक जन्म बीतने पर भी जो अनुभव नहीं होता, उसे तुम इतने शीघ्र कर सकीं।

राधा—क्यों, सखा, अभी तुम ग्यारह वर्ष के ही हो?

कृष्ण—नहीं, सखि, मेरी अवस्था भी उतनी ही है जितनी तुम्हारी।

राधा—पर मेरे हृदय-चक्षुओं से तो तुम उतने ही बड़े दिखते हो। वैसा ही सुन्दर बाल-स्वरूप है, सखा, वैसा ही; स्पर्श में भी तुम मुझे वैसे ही सुखद लगते हो, वैसे ही; वैसा ही प्यारा तुम्हारा स्वर है, वैसा ही; प्यारे सखा, बजाओ, मुरली बजाओ; एक बार फिर सुनूंगी। मेरे प्यारे कृष्ण! मेरे प्राणवल्लभ कृष्ण। मेरे सर्वस्व कृष्ण!

[कृष्ण मुरली बजाते हैं। राधा अपना मस्तक कृष्ण के कंधे से टिका लेती हैं। गोपियाँ गाती हैं और गुलाल छिड़कती हैं।]

राधा-माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृङ्ग गति हुइ सो गयी॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रयी।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गयी॥

[कुछ ही देर में राधा का मृत शरीर कृष्ण के चरणों में गिर पड़ता है।]

कृष्ण—देखा, कृष्णा, देखा, रुक्मिणी, यह अद्वितीय प्रेम है,

यह प्रेम लक्षणा-भक्ति है ।

द्रौपदी—(**आश्चर्य से**) हैं ! मृत्यु हो गयी ! मृत्यु हो गयी ! अद्भुत है !

रुक्मिणी—अपूर्व है !

[**गोप-गोपियों में हाहाकार होता है । परदा गिरता है ।**]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारका का मार्ग

समय—प्रात:काल

[**मार्ग, मथुरा के मार्ग के समान ही है । अनेक नगरवासियों का प्रवेश ।**]

एक—भारी उत्सव हुआ, बन्धु, भारी उत्सव । हिमालय से रामेश्वर तक और पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक, क्या हमारे राज्य में और क्या हमारे राज्य के बाहर, भगवान् श्रीकृष्ण के अस्सी वर्ष की इस जन्म-गाँठ का आज एक मास पूर्व से भारी उत्सव हुआ । हर वर्ष यह उत्सव बढ़ता ही जाता है ।

दूसरा—आज ही तो जन्म-गाँठ है; आज उत्सव समाप्त हो जायगा ।

तीसरा—आज सारा देश उन्हें परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है और इसमें सन्देह ही क्या है ?

चौथा—किसीने परब्रह्म परमात्मा को देखा है कि कोई उनका अवतार मान लिया जाय ?

दूसरा—जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि वे आज संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और इसके कारण हैं।

चौथा—क्या ?

दूसरा—बल और ज्ञान दोनों में अद्वितीय हैं, स्वार्थ से वे रहित हैं और उनका नैतिक चरित्र नितान्त शुद्ध है।

चौथा—मैं तो यह भी नहीं मानता। एक बक, एक वत्स, एक गर्धभ, एक सर्प मार डालने से, उस वक को चाहे बकासुर, वत्स को चाहे वत्सासुर, गर्धभ को चाहे केशी और सर्प को चाहे अघासुर बड़े-बड़े नाम दिये जायं, कोई बलशाली सिद्ध नहीं हो सकता। रहा ज्ञान, सो यदि धूर्त्तता का नाम ही ज्ञान हो, तब तो दूसरी बात है, नहीं तो ज्ञान तो कृष्ण में छू तक नहीं गया है और निस्वार्थता की तो बात ही छोड़ दो; कृष्ण से बड़ा स्वार्थी न आज तक जन्मा है और न भविष्य में जन्मेगा।

पहला—क्या बकता है ?

चौथा—सत्य कहता हूं, सत्य। जो कुछ उसने किया सब अपने उत्कर्ष के लिए। नीच कुल में उत्पन्न हुआ, पर उच्च कुल का बने बिना उत्कर्ष कैसे होता, अतः व्रज के माता-पिता को छोड़ अपने को वसुदेव-देवकी का पुत्र घोषित किया। उन बेचारे नंद-यशोदा को छोड़ा भी ऐसा कि वे रो-रोकर मरणासन्न हो गये, पर एक बार भी उनकी सुधि न ली; इसलिए कि कहीं पुनः व्रज जाने के कारण जन-समुदाय यह न कह दे कि यथार्थ में नंद-यशोदा ही उसके पिता-माता हैं। स्वयं सिंहासनासीन तो हो नहीं सकता था, क्योंकि विप्लव

हो जाता, अतः उग्रसेन के सदृश वृद्ध को सिंहासन पर बैठाया, जिसमें उग्रसेन उसके हाथ कठपुतली रहे और सारी राज-सत्ता उसकी मुट्ठी में। फिर कौरव-पाण्डवों में युद्ध करा उनकी शक्ति का संहार करवा डाला, जिससे स्वयं ही सबसे अधिक शक्तिशाली रह सके। कहाँ तक उसके स्वार्थों को गिनाऊँ?

पहला—(क्रोध से) क्या मौत तेरे सिर पर नाचती है?

चौथा—(मुसकराकर) पहले कृष्ण के नैतिक चरित्र का इतिहास और सुन लो तब मुझे मारना। **(उँगली पर अँगूठे को रख-रखकर गिनते हुए)** जिसने पूतना की स्त्री-हत्या की, चोरी की, व्रज की गोपियों से व्यभिचार किया, जो रण में से भागा, जिसने दूसरे की पुत्री का हरण किया, अपनी भगिनी को भगवाया, अनेक विवाह किये, देश-भर में सर्वश्रेष्ठ पद पाने के लिए युद्ध-भूमि में नहीं, किन्तु पाण्डवों के राजसूय-यज्ञ की यज्ञशाला में शिशुपाल को मारा और कौरव-पाण्डवों के युद्ध में अधर्म से कौरव-पक्ष के निःशस्त्र महारथियों को मरवाया, वह नैतिक दृष्टि से सच्चरित्र! **(ज़ोर से हँसकर)** ऐसा मनुष्य आज भगवान् का अवतार हो गया है! संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना जाता है! सारे देश में हर वर्ष उसकी जन्म-गाँठ मनायी जाती है! सचमुच संसार बड़ा निर्लज्ज है!

पहला—(क्रोध से) बस, बहुत हो गया, बहुत हो गया। यदि एक शब्द भी और कहा तो जीभ खींच लूँगा, जीभ।

दूसरा—(क्रोध से) मार-मारकर लेह्य बना डालूँगा।

तीसरा—(क्रोध से) भरता-सा भूँज डालूँगा, भरता-सा।

चौथा—चाहे मारो, पीटो, लेह्य बनाओ, भरता भूँजो या चटनी पीसो, जो सच्ची बात होगी वह मैं तो अवश्य कहूँगा।

पाँचवाँ—**(क्रोध से)** चटनी-सी पीस डालूँगा, चटनी-सी।

[कुछ मनुष्य उसे मारने पर उद्यत होते हैं। एक बढ़कर कहता है।]

छठवाँ—अरे, क्यों नीच के संग नीच होते हो।

सातवाँ—जाने दो जी, उसके मुँह में कीड़े पड़ेंगे।

आठवाँ—भगवान् की निन्दा से कौन अच्छा फल पा सकता है?

नवाँ—हाँ, सूर्य की ओर धूल डालने से अपने सिर पर ही गिरती है?

चौथा—मैं भी ठाकुर-सुहाती कहने लगूँ तो अच्छा लगूँ।

पहला—**(छठवें से)** देखो जी, इसे समझा दो, नहीं तो इस वार मारे बिना न छोड़ूंगा।

चौथा—**(क्रोध से)** किसीको किसीके संबन्ध में क्या अपना मत प्रकट करने का भी अधिकार नहीं है?

पहला—ऐसा मत! ऐसा मत! **(मारने को भुजाओं पर हाथ फेरता है।)**

चौथा—जैसा भी जिसका मत हो, अपना-अपना मत अपने पास रहेगा, उसे वह प्रकट भी करेगा; तुम कृष्ण को भगवान् समझते हो, सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानते हो, बल और ज्ञान में अद्वितीय कहते हो, स्वार्थ-रहित घोषित करते हो, सच्चरित्र बताते हो, मैं उसमें इनमें से एक भी सद्गुण नहीं मानता। मैं उसे धूर्त्त, स्वार्थी, महत्त्वा-

कांची तथा इतना ही नहीं, स्त्री-हत्यारा, चोर, लम्पट, व्यभिचारी, कायर और विषयी मानता हूँ। अपना-अपना मत है।

पहला—बस, सहन-शक्ति की अब सीमा हो चुकी।

[चौथे मनुष्य से लड़ने को भिड़ जाता है। शेष कुछ लोग भी चौथे को मारते हैं। कई लोग उसे बचाते हैं और पहले और चौथे को अलग-अलग करते हैं।]

छठवाँ—(पहले तथा अन्य व्यक्तियों से) क्या विक्षिप्त के संग विक्षिप्त होना पड़ता है? कहाँ हम लोग प्रभास-क्षेत्र चल रहे थे और कहाँ यह दूसरी लीला करने लगे। द्वारका में सचमुच आजकल इस प्रकार के बहुत झगड़े होने लगे हैं। चलो-चलो, शीघ्र प्रभास पर पहुँचना है, नहीं तो उत्सव का स्नान ही समाप्त हो जायगा। सारा देश उलट पड़ा है, क्या हम ऐसे मंदभागी हैं कि इतने निकट रहने पर भी न पहुँचेंगे?

[छठवें के संग सब जाते हैं, पर चौथा नहीं जाता। वह उन्हें घूरता है और दूसरी ओर चला जाता है। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—द्वारका में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रात:काल

[वही दालान है जो तीसरे अंक के पहले दृश्य में थी। कृष्ण खड़े हैं। उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की होने पर भी मुख और शरीर वैसा ही है। वस्त्र श्वेत और शरीर भूषणों से रहित है।

सिर खुला है। वृद्ध उद्धव का प्रवेश। उद्धव के बाल श्वेत हो गये हैं। मुख पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं।]

उद्धव—बधाई है, द्वारकाधीश, बधाई है, आपके अस्सी वर्ष के जन्म-दिवस की बधाई है। जन्म-गाँठ का उत्सव इस राज्य में ही नहीं, किन्तु हिमालय से समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वी पर हुआ है। एक स्वर से आपका जयघोष हो रहा है। भगवन्, आपके स्वार्थ और फलेच्छारहित कार्यों के कारण, आप यद्यपि पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा नहीं हैं, पर सारे मानव-समाज के हृदय-सम्राट् हो गये हैं।

कृष्ण—(मुसकराकर) उद्धव, आज तो तुमने भी एक साँस में मुझे सचमुच ही भगवान् समझ मेरी स्तुति कर डाली।

उद्धव—और भगवान् कैसे होते हैं, देव? मैं ही क्या, सारा संसार आपको परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है।

कृष्ण—(मुसकराकर) ऐसा नहीं है, उद्धव, मेरे कई निन्दक भी हैं; आज हैं, इतना ही नहीं, सदा रहेंगे, क्योंकि कौनसा कार्य किस उद्देश से किया जाता है यह लोग बड़ी कठिनाई से समझ पाते हैं। कई गूढ़ कार्य तो ऐसे होते हैं कि ऊपर से वे निन्दनीय दिखते हैं और उनका भीतरी रहस्य साधारण जन-समुदाय की समझ में नहीं आता। पर, उद्धव, इन सब बातों की मुझे चिन्ता नहीं, मेरी आत्मा पूर्णतः सुखी है।

उद्धव—ऐसे निन्दकों के मुख आप ही काले होंगे, भगवन्, इतना ही नहीं, वे स्वयं ही अपने अन्तःकरण में कष्ट पाते रहेंगे।

कृष्ण—पर, उद्धव, सबके मुख सदा स्वच्छ और सबके हृदय

सदा सुखी रहने की ही अभिलाषा करनी चाहिए ।

उद्धव—(कुछ लज्जित हो) चाहिए तो ऐसा ही, पर मनुष्य अपनी कृतियों के कारण दुखी हो ही जाता है । जो कुछ भी हो, हम लोग तो सदा इसीके इच्छुक रहते हैं कि अभी आप अनेक वर्ष इस भूतल पर विराजें और जगत् का कल्याण करें ।

कृष्ण—(मुसकराकर) हर मनुष्य अपने निश्चित कार्य के लिए ही जगत् में आता है और वह कार्य हो चुकने के पश्चात् एक क्षण भी नहीं रह सकता । अब तो मुझे संसार में अपने रहने का कोई प्रयोजन नहीं दिखता । इस समय दुष्टों का एवं अधर्म और अन्याय का नाश हो चुका है; धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम की विजय हो चुकी है । उत्तर दिशा में इतने दीर्घ काल से जो सुर और असुरों का कलह चल रहा था, वह भी सम्राट् बाण की उदारता के कारण अनिरुद्ध और उषा के विवाह से समाप्त हो गया; सुरों को उनका राज्य मिल गया एवं सुरेश और असुरेश में भी स्थायी संधि तथा गाढ़ मित्रता हो गयी । मेरा अब कोई कार्य तो शेष नहीं दिखता; हाँ, इस देश के रहनेवाले यादव अवश्य दिनों दिन मदमत्त होते जा रहे हैं ।

उद्धव—(घबड़ाकर) तब क्या इनका भी अनिष्ट होगा, भगवन् ?

कृष्ण—जो मदोन्मत्त हो संसार के दुःखों का कारण होते हैं, उनका नाश अवश्यंभावी है ।

उद्धव—परन्तु, प्रभो, आप सदृश उनका रक्षक होने पर भी ?

कृष्ण—मैं धर्म, न्याय और सत्य की रक्षा कर सकता हूँ;

अधर्म, अन्याय और असत्य की रक्षा करने जाऊँ तो स्वयं भी उसी के संग नष्ट हो जाऊँ।

उद्धव—परन्तु, देव, यादवों के सुधार का प्रयत्न कीजिए।

कृष्ण—सो तो कर ही रहा हूँ, पर वे सुधर नहीं रहे हैं। जब विगड़ी हुई वस्तु सुधार के परे चली जाती है, तब उसका नाश ही होता है। मुझे तो यदुकुल का कल्याण नहीं दिखता।

[वृद्ध बलराम का प्रवेश। उनके केश भी श्वेत हो गये हैं और उनके मुख पर भी झुर्रियाँ दिखती हैं।]

बलराम—प्रभास-क्षेत्र की यात्रा का समय हो गया, कृष्ण, इस वर्ष तो तुम्हारे जन्मोत्सव के कारण सारा देश प्रभास की ओर उलट पड़ा है। सभी स्नान करने और तुम्हारे दीर्घजीवी होने की मंगल-प्रार्थना करने जा रहे हैं। तुम तो, बन्धु, लोगों की दृष्टि में सचमुच भगवान् के पूर्णावतार हो गये हो।

कृष्ण—सो तो मैं नहीं जानता, आर्य, मेरी दृष्टि में तो सारा विश्व ही भगवान् है, और यदि इसका पूर्ण अनुभव ही भगवान् का पूर्णावतार होना है, तो मुझे आप या कोई भी भगवान् का पूर्णावतार मान सकते हैं। पर चलिए, प्रभास पर अवश्य चलूँगा।

[तीनों का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

पांचवां दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र का एक वन-मार्ग

समय—संध्या

[दो व्याधों का धनुष-बाण लिए हुए प्रवेश ।]

एक—ऐसा युद्ध कहीं देखा, बन्धु, कभी सुना भी ? पशु भी इस प्रकार तो नहीं लड़ते ।

दूसरा—मदिरा से मदमत्त थे । मत्तता में कुछ सूझता है ?

पहला—ऐसा मद कि पिता-पुत्र, भ्राता-भ्राता, श्वसुर-जामात्र, मित्र-मित्र, आपस में लड़कर मर गये और जब आयुध नहीं बचे तो ऐरक घास से लड़े ।

दूसरा—भयानक युद्ध हुआ, भयानक ! कदाचित् ही कोई यादव बचा हो ! सभी समाप्त हो गये ! भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम ! **(लम्बी साँस लेता है । कुछ ठहरकर दाहनी ओर देख)** देखना, वह दूर पर क्या दिखता है ?

पहला—**(देखकर)** मृग है मृग । दिन-भर में आज कुछ न मिला । ऐसा बाण छोड़ो कि जिससे वह एक ही बाण का हो ।

दूसरा—लो, अभी लो ।

[बाण छोड़ता है । दोनों जिस ओर बाण छोड़ा जाता है, उसी ओर दौड़ते हैं । परदा उठता है ।]

छठवां दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र की एक पहाड़ी

समय—संध्या

[बलराम और उद्धव का शीघ्रता से प्रवेश ।]

बलराम—**(रोते हुए)** हाय ! हाय ! सब समाप्त हो गया, सब

समाप्त हो गया ! कृष्ण अब कितनी देर के, उद्धव ! यादव लड़कर मर गये; कृष्ण उस व्याध के बाण के आखेट हुए ! अरे ! यदि वे ही रहते तो सब कुछ था, पर गया, सब कुछ गया ! हा ! कृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम होना था !

उद्धव—(रोते हुए) महाराज, भगवान् कृष्ण ने कहा था कि यादव बड़े मदमत्त हो गये हैं; इनका अब कल्याण नहीं दिखता ।

बलराम— मद यादवों को अवश्य हो गया था, पर यदि वारुणी न पी होती, तो यह दशा न होती । पर, बन्धु, कृष्ण की जन्म-गाँठ का उत्सव था । मुझे ही वारुणी बड़ी प्रिय है, मैंने ही साग्रह सबों को पिलायी । हा ! व्रज के जीवन से लेकर आज तक की सारी घटनाएँ आज मेरे नेत्रों के सम्मुख घूम रही हैं । हम सबके जाने का समय ही था, पर, पुत्र-पौत्रादि भी नष्ट हो गये ।

[नेपथ्य में मुरली की ध्वनि सुनायी पड़ती है ।]

बलराम—यह लो, उद्धव, यह लो । बन्धु-बांधव, पुत्र-पौत्रों के नष्ट होने पर भी, स्वयं मरणासन्न होने पर भी, कृष्ण की मुरली ही बज रही है ! महा अद्भुत हृदय है !

उद्धव—चलिए, महाराज, इस समय उनके निकट चलना चाहिए ।

बलराम—नहीं, नहीं, उद्धव, मेरा साहस उनके निकट जाने का नहीं है । मुझे अब समुद्र में ही शांति मिलेगी, और कहीं नहीं, और कहीं नहीं । **(शीघ्रता से प्रस्थान ।)**

उद्धव—महाराज ! महाराज !

[पीछे-पीछे दौड़ते हैं। परदा उठता है।]

सातवां दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र पर समुद्र का किनारा

समय—सन्ध्या

[समुद्र और क्षितिज मिला हुआ-सा दिखता है। समुद्र में लहरें उठ रही हैं और क्षितिज पर बादल। सूर्य अस्त हो रहा है। आसपास के पर्वत, झरने और वृक्ष उसकी किरणों से चमक रहे हैं। कभी-कभी बादलों में बिजली चमक जाती है। इधर-उधर अनेक लाशें और मनुष्य-शरीरों के कटे हुए अवयव पड़े हैं। एक वृक्ष के नीचे कृष्ण पत्थर से टिके, आधे लेटे हुए मुरली बजा रहे हैं, उनके पैर से रक्त बह रहा है। अधीर उद्धव का प्रवेश।]

उद्धव—(निकट जाकर ज़ोर से रो पड़ते हैं) भगवन् ! भगवन् !

कृष्ण—(मुरली हटाते हुए मुसकराकर) कौन, उद्धव ? क्यों, रोते क्यों हो ? यादवों के नष्ट होने का रुदन है अथवा मेरे वियोग का ? रोने का तो कोई कारण नहीं है ?

उद्धव—महाराज, क्या रहा ? कुछ नहीं रह गया, सब गया, भगवन्, सब गया। यादव नष्ट हो गये, वीरवर बलराम ने आपकी यह दशा देख समुद्र में समाधि ले ली और आप जाने को प्रस्तुत हैं,

देव। यह मन्द भाग उद्धव ही रह गया।

कृष्ण—(मुसकराते हुए) जिसका कार्य समाप्त हो जाता है, उसे जाना ही पड़ता है, जिसका कार्य शेष रहता है, उसे रहना। मैंने तुमसे कहा ही था कि मदोन्मत्त यादवों का मैं कल्याण नहीं देखता, यह भी कहा था कि मेरा भी कोई कार्य शेष नहीं दिखता, आर्य का भी कदाचित् कोई कार्य शेष न था, पर अभी तुम्हारी आवश्यकता जान पड़ती है। तुम्हें बचे हुए यादवों को मथुरा ले जाना है, क्योंकि प्राकृतिक अवस्थाओं के कारण द्वारका की भी कुशलता नहीं दिखती। फिर मेरे जाने के कारण दुःख से जो समाज तप्त हो जायगा उसे ज्ञान-द्वारा तुम्हीं सान्त्वना दे सकोगे। अभी तुम्हारा कार्य है, उद्धव।

उद्धव—(रोते हुए) परन्तु, भगवन्, मैं सदा आपके संग रहा, आपका अनुचर रहा, आपके बिना कैसे रहूँगा?

कृष्ण—यदि इतने दीर्घ काल तक मेरे संग रहने पर भी आज तुम्हें यह मोह उत्पन्न हो रहा है, तो मेरे संग रहने से तुम्हें लाभ ही क्या हुआ? जब तुम्हारा कर्तव्य समाप्त हो चुकेगा, तब तुम तुम चाहोगे, तो भी इस भूतल पर इस स्वरूप में न रह सकोगे। जो सामने कर्तव्य आये, उसे निष्काम हो करते जाओ। **(कुछ ठहरकर)** अच्छा, उद्धव, अब जाता हूँ। देखते हो, सामने का विशाल आकाश-मण्डल और विशाल समुद्र; इसी आकाश में मैं भी व्याप्त हो जाऊँगा, इसी सागर की तरंगों में मैं भी विचरण करूँगा। देखते हो, उठते हुए बादल; इन्हीं बादलों के संग मैं भी क्षितिज पर उठूँगा। देखते हो, बिजली, इसीके संग मैं भी चमकूँगा। देखते हो, सूर्य की किरणें,

इनके संग मैं भी आलोकित होऊँगा । चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में झलका करूँगा और तारों की दमक में दमका करूँगा । पर्वतों, नदियों, झरनों, वृक्षों, लताओं में व्याप्त हो जाऊँगा, और इन सबके परे भी जो कुछ इस सारे विश्व में दर्शनीय तथा अदर्शनीय, वर्णनीय तथा अवर्णनीय है, मैं समस्त में प्रविष्ट हो जाऊगा । सृष्टि के परे भी जो कुछ होगा वहाँ भी मैं होऊँगा । मुझे जाने में कोई क्लेश नहीं हो रहा है, कोई नहीं । इस बाण से शरीर को जो कष्ट मिल रहा है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, कोई नहीं । बड़े सुख, बड़े उल्लास, बड़े आनन्द से मैं जा रहा हूँ । जाता हूँ, उद्धव, जाता हूँ, ऐसे स्थान को जाता हूँ, जहाँ धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, प्रेम-द्वेष, पाप-पुण्य ऐसा द्वंद्व नहीं है; जहां सभी निर्द्वंद्व हैं, एक हैं । इस मुरली के स्वरों के साथ ही जाता हूँ ।

[कृष्ण नेत्र बन्दकर मुरली बजाते हैं । कुछ देर में मुरली बंद हो जाती है ।]

यवनिका

वि का स ?

[एक नाटकीय संवाद]

स्थान—एक गृह का शयनागार

समय—रात्रि

[आधुनिक ढंग का शयनागार है। तीन ओर दिवाल दिखती हैं। दीवालें और छत आसमानी रङ्ग से रँगी हैं। दीवालों पर तैल चित्र टँगे हैं। छत से बिजली की बत्तियाँ तथा श्वेत पंखा झूल रहा है। फ़र्श पर क़ाज़ीन बिछा है। सामने की दीवाल के बीच में शीशे के दरवाज़ों की सुन्दर आलमारी रखी है। आलमारी के दोनों ओर दो द्वार हैं जिनमें काँच के दरवाज़े हैं। दाहिनी ओर की दीवाल के बीचों-बीच गद्दीदार सोफ़ा रखा है। उसके आसपास दो आरामकुर्सियाँ हैं सोफ़ा के सामने टेबिल है। बायीं ओर की दीवाल के सहारे 'टायलेट' के सामान से सजी हुई सिंगार मेज़ (ड्रेसिङ्ग टेबिल) और एक कुर्सी रखी है। कमरे के बीच में पीतल के दो पलँग बिछे हैं। एक पर एक सुन्दर युवक तथा दूसरे पर एक सुन्दर युवती निद्रामग्न हैं। दोनों के शरीर चादरों से ढँके हैं, परन्तु उनके मुख दिखायी देते हैं। कमरे में बिजली की नीली बत्ती का मन्द प्रकाश है। एकाएक अँधेरा हो जाता है। पुनः प्रकाश फैलता है। स्थल और समय वही है। शयनागार के स्थान पर क्षितिज दिखायी पड़ता है। क्षितिज पर चन्द्रमा का प्रकाश फैला हुआ है, तथापि

चन्द्रमा दृष्टिगोचर नहीं होता। दूर पर धुँधली पर्वत-श्रेणी दिखती है, उसके आगे वृक्षावली हैं। निकट के वृक्षों पर धुँधले पुष्प-गुच्छ और फल-समूह दिखायी देते हैं। वृक्षों के एक ओर नदी बह रही है, जिसका प्रवाह चाँदनी में चमक रहा है। वृक्षों के बीच में यत्र-तत्र मंदिरों के शिखर तथा प्रासाद एवं गृहों के ऊपरी भाग दिखायी देते हैं। कहीं-कहीं धुँधले-धुँधले मार्ग दिखते हैं। क्षितिज के ऊपर आकाश में छोटे-बड़े अगणित तारागण हैं, कोई रह-रहकर चमक रहा है और किसी-किसी का प्रकाश स्थिर है। चलती हुई वायु का शब्द हो रहा है। धीरे-धीरे उस शब्द में गायन की ध्वनि सुनायी पड़ती है—]

अहो, यह प्रकृति-बाल छविवान,
सतत नियति से निश्चित इसका पतन और उत्थान।
मुरझा मुँदते नयन युग सह दुख झञ्झावात,
खिल-खिल हँस उठते कभी लख सुख-स्वर्ग-प्रभात;
इसी क्रम से यह रोदन गान,
करता प्रकृति-बाल छविवान।

[इस गायन का अन्तिम चरण गाते हुए क्षितिज पर ऊपर उठता हुआ एक श्वेत मनुष्य-शरीर दृष्टिगोचर होता है। क्षितिज तक उठ वह सिर उठा आकाश की ओर देखने लगता है। उसी समय आकाश में गायन की ध्वनि सुनायी पड़ती है—]

शैशव को अतिक्रान्त कर, चढ़ विकास सोपान,
ज्ञान उच्चतम शिखर को प्रकृति नित्य गतिमान;

गान में क्यों रोदन का भान ?
अहो, यह प्रकृति-बाल छविवान !

[गायन का अन्तिम चरण गाते हुए आकाश से क्षितिज पर एक मनुष्य-शरीर उतरता है। वह नील वर्ण का है। पीछे आया हुआ व्यक्ति पहले आये हुए व्यक्ति का आलिङ्गन करता है और दोनों क्षितिज से उतर सामने की ओर आने लगते हैं। दोनों के निकट आने पर ज्ञात होता है कि क्षितिज पर नीचे से उठने वाला व्यक्ति एक अत्यन्त सुन्दर और गौर वर्ण की युवती है। वह श्वेत फूलों से युक्त श्वेत रङ्ग की साड़ी और चोली धारण किये हुए है एवं दृष्टि को चकाचौंध करने वाले श्वेत रत्न-जटित आभूषण पहने है। ऊपर से क्षितिज पर उतरने वाला व्यक्ति एक परम सुन्दर नील वर्ण का युवक है। वह चमकते हुए सितारों से युक्त नील उत्तरीय और धोती धारण किये है एवं आभा-पूर्ण नीलम के आभूषण।]

युवक—(और भी निकट आते हुए युवती के गले में हाथ डाल) वही प्राचीन मत-भेद है, प्रियतमे, वही प्राचीन। जब तुम यह गायन गाने लगती हो तभी मैं विह्वल-सा हो उठता हूँ। मुझसे चुपचाप रहा ही नहीं जाता और तुम्हारी भूल सिद्ध करने को, तुमसे सम्भाषण करने के निमित्त, हे असंख्य आकारों को उत्पन्न करने वाली उर्वरा, निराकार होने पर भी मुझे तुम्हारी सृष्टि की अब तक की उत्पत्ति का यह सर्वश्रेष्ठ आकार धारण करने को बाध्य होना पड़ता है।

पृथ्वी—यह गान गाये बिना मुझसे भी तो नहीं रहा जाता, प्रियतम। मैं जानती हूँ, तुम इसका प्रतिवाद करने के लिए अनंग होने पर भी सांग होगे। निराकार से कौनसा आकार धारण करोगे यह भी मैं जानती हूँ; अतः मैं पहले से ही इस स्वरूप में तुम्हारे स्वागत के लिए उपस्थित हो जाती हूँ।

आकाश—किन्तु, मैं तो देखता हूँ, प्रिये, कि तुम अकेली ही इस भ्रम में नहीं पड़ी हो, **(अँगुली घुमा सामने के तारागणों की ओर संकेत करते हुए)** तुम्हारे इन सभी बन्धुगणों को यही भ्रम है कि सारी सृष्टि चक्रवत् घूम रही है; उत्थान होता है और पुनः पतन। समस्त सृष्टि निरन्तर उत्थान की ओर जा रही है, अतः विकास ही इसका निश्चित पथ है, इसका इन्हें विश्वास ही नहीं होता। तुम्हारे सभी बान्धव इसी प्रकार के गायन करते हैं। जब-जब मुझे उनके ये गायन सुन पड़ते हैं, तभी मुझे उनकी सृष्टि की उत्पत्ति का सर्वश्रेष्ठ आकार ग्रहण कर, उनके भ्रम का निवारण करने का प्रयत्न करना पड़ता है। **(पृथ्वी का मुख चूमते हुए)** प्राणेश्वरी, अत्यन्त बुद्धिमती होने के कारण तुम इला कहलाती हो, किन्तु, इतने पर भी तुम्हारे इस मूर्खतापूर्ण भ्रम का क्या कारण है, जानती हो?

पृथ्वी—**(आकाश का दृढ़ालिङ्गन कर)** क्या, तारापथ?

आकाश—तुम्हारा स्वयं चक्रवत् घूमना। तुम्हारे स्वयं के घूमने के कारण तुम्हें सारी सृष्टि उसी प्रकार घूमती हुई दिखायी पड़ती है। इस भ्रम में अचल हो जाने के कारण, आठों पहर चौसठों

घड़ी चलित रहने पर भी तुम अचला कहलाती हो। तुम्हारे बन्धुगणों का यह भ्रम भी उनके स्वयं के घूमने के कारण ही है।

पृथ्वी—तुम्हारे इस तर्क का तो यह उत्तर हो सकता है, अन्तरिक्ष, कि तुम स्वयं उन्नत, अत्यन्त उन्नत हो, अतः तुम्हें यही भ्रम रहता है कि सारी सृष्टि उन्नति की ओर ही अग्रसर है।

आकाश—(**आश्चर्य से**) भ्रम! और मुझ अनन्त को! बात यह है, हृदयेश्वरी, कि तुम्हें और तुम्हारे बन्धुगणों को केवल अपनी सृष्टि का ही ज्ञान है, किन्तु मेरा सम्पर्क तो सभी से है। तुम और वे प्रथक्-प्रथक् रूप से नहीं जानते कि सभी ओर उन्नति की कैसी धूम मची हुई है।

पृथ्वी—मुझे चाहे अपने अतिरिक्त और किसीका ज्ञान न हो, किन्तु मैं इतना जानती हूँ कि समस्त सृष्टि एक ही नियम से शासित होती है। जो मेरे यहाँ का नियम है वही समस्त सृष्टि का है।

आकाश—यह मैं भी मानता हूँ कि समस्त सृष्टि का एक ही नियम है, इसीलिये मैं कहता हूँ कि तुम्हारी सृष्टि भी उन्नति की ओर ही जा रही है।

पृथ्वी—इसका तुम्हारे पास कौन-सा प्रमाण है कि उन्नति ही सृष्टि का नियम है?

आकाश—प्रमाण? एक ही प्रमाण है।

पृथ्वी—वह क्या?

आकाश—यही कि अब तक जो कुछ हुआ है भविष्य में भी वही होगा। देखो, प्राणेश्वरी, इस सृष्टि में सर्वप्रथम मेरी उत्पत्ति

हुई है। मुझसे वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से तुम्हारे पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति होकर फिर समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। मैंने सृष्टि की आरम्भिक अवस्था देखी है और उसके पश्चात् उसके उत्तरोत्तर विकास का अवलोकन किया है। मैंने देखा है कि इन पाँचों तत्त्वों से किस प्रकार तुम्हारा स्थूल स्वरूप और (अँगुली घुमा तारागणों की ओर संकेत कर) तुमसे न जाने कितने गुने बड़े आकार के ये तुम्हारे बन्धुगण, अगणित सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र उत्पन्न हुए हैं। अन्यों के विकास का वृत्त न बता मैं तुम्हारी सृष्टि के विकास का ही तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ, क्योंकि वही तुम्हारे अधिक समझ में आवेगा। क्या तुम भूल गयीं कि किस विधि से तुम्हारा दारुण ताप शनैः शनैः शीतल हुआ और किस क्रम से तुम्हारे सागर, पर्वत, नदियों आदि का निर्माण हुआ? क्या तुम्हें यह भी स्मरण नहीं है कि कैसे तुम्हारी उद्भिज सृष्टि की उत्पत्ति हुई और फिर तुम्हारे सागर से किस भाँति साकार और चेतन जीव सृष्टि का आरम्भ हुआ? तुम्हें याद होगा कि उस जीव सृष्टि में शनैः-शनैः कैसे मत्स्य, कूर्म, वराह और नृसिंह के स्वरूप बन तुम्हारी सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य का वामन रूप से प्रादुर्भाव होकर उस मनुष्य का किस विधि से मानसिक और शारीरिक विकास हुआ? मनुष्य ने सृष्टि की सबसे प्रधान बात जो सृष्टि की एकता है, उस तक ज्ञान प्राप्त कर लिया है। प्रिये, प्राणाधिके, सृष्टि की आदि और वर्तमान अवस्था के अन्तर का मुझे ज्ञान है। सारी सृष्टि उन्नति की ओर जा रही है, अवश्य उन्नति की ओर जा रही है।

पृथ्वी—तुमसे मैं थोड़ा ही कम जानती हूँ, प्रियतम, क्योंकि मेरी उत्पत्ति के पश्चात् ही अधिक विकास हुआ है। सूक्ष्म के विकास के लिए स्थूल ही तो साधन है। इसीलिए विना मेरे विकास का कार्य आगे न बढ़ सकता था। मनुष्य की उत्पत्ति तक अपनी सृष्टि के विकास को मैं भी स्वीकार करती हूँ। यह भी मैं अस्वीकार नहीं करती कि उत्पत्ति के पश्चात् कुछ काल तक मनुष्य ने भी अपनी उन्नति की थी।

आकाश—अभी भी मनुष्य अपनी उन्नति कर रहा है।

पृथ्वी—नहीं, अब उसकी अवनति आरम्भ हो गयी है।

आकाश—यह कैसे ?

पृथ्वी—देखो, प्राणेश, अन्य प्राणियों से मनुष्य में जो विशेषता है वह उसकी ज्ञान-शक्ति ही है न ?

आकाश—अवश्य।

पृथ्वी—इस ज्ञान-शक्ति के द्वारा ही तो मनुष्य ने सृष्टि की सब से प्रधान बात—समस्त सृष्टि की एकता को जाना है।

आकाश—निस्सन्देह।

पृथ्वी—परन्तु इस एकता को जानने के पश्चात् जो यह आशा की जाती थी कि मनुष्य में प्रेम का प्रादुर्भाव होगा, प्रेम-द्वारा वह समस्त सृष्टि को अपने समान ही मान, सभी को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करेगा, और इस प्रयत्न में उसे सच्चा सुख मिलेगा, वह आशा निराशा में परिणत हो गयी ?

आकाश—यह कैसे ?

पृथ्वी—उसमें जो पाशविकता है, उसके कारण सामूहिक रूप से वह इस ज्ञान का भी अनुभव न कर सका और अनुभव न करने के कारण उसके कर्म कभी भी इस ज्ञान के अनुरूप नहीं हुए। उसकी सभी कृतियाँ अपने-पराये और असमानता के भावों से भरी हुई हैं। अन्य को सुख देने से उसे सुख का अनुभव होना तो दूर रहा, अपने लिये वह दूसरों को कष्ट दे रहा है। स्वार्थवश सभी, अपने-अपने साढ़े तीन हाथ के शरीरों की इन्द्रियों को तृप्त करने में लगे हुए हैं, आधिभौतिक सुखों में निमग्न हैं।

आकाश—किन्तु, प्रिये, तुमने अभी कहा ही कि विकास के लिये स्थूल अनिवार्य है, जिसे मैं भी मानता हूँ, अतः शरीर की रक्षा के लिए आधिभौतिक पदार्थ आवश्यक होते हैं।

पृथ्वी—इस आवश्यकता की पूर्ति उन्हें साधन मानकर करना एक बात है, परन्तु आधिभौतिक सुखों को ही साध्य मान उन्हींके लिए लालायित रहना सर्वथा दूसरी बात है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितनी आधिभौतिक वस्तुओं की आवश्यकता है वे दूसरे को कष्ट दिये बिना सहज में प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु मनुष्य अपनी पाशविकता के कारण उनसे कहीं अधिक के लिए इच्छुक रहता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के लिये वह दूसरों को लूटने के लिए कटिबद्ध होता है। इसी स्वार्थ के कारण ही मेरी सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणियों का समाज भी लूट-मार और रक्त-पात से भरा हुआ है। चूँकि मेरी सृष्टि में मनुष्य से उन्नत कोई प्राणी उत्पन्न नहीं हुआ, और चूँकि मनुष्य अपने अब तक के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का अनुभव कर उसके अनु-

रूप कर्म न कर सका, अतः मेरा विश्वास है, मनुष्य और उसके संग मेरी सृष्टि की अवनति का आरम्भ हो गया है। तुम जानते ही हो कि या तो किसी वस्तु की उन्नति होती है, या अवनति; स्थिर अवस्था में कोई वस्तु रह ही नहीं सकती। यह तुम भी स्वीकार करते हो कि समस्त सष्टि एक ही नियम से शासित होती है, अतः जो मेरी दशा है वही अन्यों की होगी; (**कुछ रुककर**) नहीं-नहीं, होगी क्या, है ही। तुमने ही कहा कि सभी मेरे सदृश गान गाया करते हैं। हाँ, मैं यह नहीं कहती कि फिर उन्नति न होगी, क्योंकि अवनति की अन्तिम अवस्था नाश है। किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं हो सकता, अतः जिस वस्तु का नाश दिखता है किसी अन्य रूप से उसकी पुनः उत्पत्ति होती है, उत्पत्ति के पश्चात् पुनः उत्थान और पतन होता है। इस प्रकार हर वस्तु प्रथक् एवं सामूहिक दोनों ही रूप से चक्र में घूम रही है। इस समय मनुष्य और उसके संग मेरी सृष्टि अवनति की ओर अग्रसर है।

आकाश—किन्तु, प्राणाधिके, हर वस्तु को प्रथक् रूप में देखने से ही उसका चक्रवत् घूमना दिखता है। सामूहिक रूप में तो सृष्टि उन्नति की ओर ही अग्रसर है। मनुष्य जाति को सामूहिक दृष्टि से देखा जाय तो मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य सृष्टि की एकता के अपने ज्ञान का अनुभव नहीं कर रहा है और उसके कर्म उसके ज्ञान के अनुरूप नहीं हो रहे हैं। अन्य विकासों के अनुसार शनैः शनैः इस दृष्टि से भी उसका मानसिक विकास हो रहा है। आवश्यकता से अधिक आधिभौतिक सुखों की वासना जिस पाशविकता के कारण

होती है उसका वह दमन कर रहा है, इसीलिए अपने आधिभौतिक सुखों के लिए अन्य को कष्ट देने की प्रवृत्ति मिट रही है, वरन् अन्य को सुख देने में उसे सुख मिलने लगा है। आज जो अभूतपूर्व आधिभौतिक आविष्कार हो रहे हैं, विज्ञान की जो धूम मची हुई है, वह मनुष्य का संसार को सामूहिक रूप से सुख देने का प्रयत्न है।

पृथ्वी—कहाँ ? पहले यदि एक व्यक्ति अपनी आधिभौतिक वासनाओं की तृप्ति के लिए दूसरे व्यक्ति को कष्ट देता था तो आज एक समाज दूसरे समाज को, एक देश दूसरे देश को, कष्ट पहुँचा रहा है। इन सब आधिभौतिक और वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग संसार के सामूहिक सुख के लिए न होकर सामूहिक नाश के लिए हो रहा है।

आकाश—इन भावनाओं के परिवर्तन का प्रयत्न भी आरम्भ हो गया है। मनुष्य की दृष्टि जाति-प्रेम और देश-प्रेम से हटकर विश्व-प्रेम की ओर जा रही है। विश्व-बन्धुत्व के भावों का प्रसार हो रहा है। इन भावों का पूर्ण साम्राज्य होने पर लूट-मार और रक्त-पात का अन्त हो जायगा, मनुष्य वर्ग के नाश का भय न रहेगा और वह अपने ज्ञान और विज्ञान की निश्चिन्तता से उन्नति कर सकेगा। पहले तुम्हारा समस्त मानव-समाज प्रेम के एक सूत्र में बँधेगा। फिर वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा अन्य भूमण्डलों में रहने वाली योनियों से वह सम्बन्ध स्थापित करेगा। मैं जानता हूँ कि अन्य भूमण्डलों में भी यही प्रयत्न चल रहा है। इस प्रकार समस्त भूमण्डलों की यह एकत्रित शक्ति अपने ज्ञान और विज्ञान-द्वारा एक दूसरे को सुख पहुँचा

सच्चे तथा स्थायी आध्यात्मिक और आधिभौतिक सुख को प्राप्त कर सकेगी। मानव-समाज को प्रेम-सूत्र में बाँधने का सर्वप्रथम व्यापक प्रयत्न तुम्हारे संसार के भारत-देश में हुआ था। यह प्रयत्न मगध के कपिलवस्तु नगर के जिस राजकुमार सिद्धार्थ ने किया था तुम्हीं को तो उनके धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, धरिणी। तुम मनुष्य की जिस पाशविक वृत्ति को उसका नाशकारक दुर्गुण मानती हो उसे सिद्धार्थ ने जीत, सृष्टि की एकता का अनुभव कर उसके अनुरूप कर्मों द्वारा, मनुष्यों को जिस आचार प्रधान धर्म की मुख्यता बता, संसार की जिस प्रकार सेवा की थी, वह तुम्हें स्मरण है या नहीं? तुमको इस निराशामय कोहरे के बाहर निकालने के लिए मेरी तो आज यह इच्छा होती है कि मैं एक बार तुम्हें तुम्हारी सृष्टि के इन महाप्रयत्नों के कुछ दृश्य दिखाऊँ।

पृथ्वी—दिखाओ, गगन, दिखाओ, परन्तु उसके पश्चात् मैं भी जो कुछ दिखाऊँगी उसे तुम्हें भी देखना होगा।

आकाश—हाँ-हाँ, अवश्य देखूँगा, अवश्य।

[एकाएक अँधेरा हो जाता है। थोड़ी ही देर में पुनः प्रकाश फैलता है। निकट ही आकाश और पृथ्वी पीछे की ओर मुख किये हुए खड़े हैं। उनकी पीठ और मुख का कुछ भाग दिखायी देता है। उनके सामने, जहाँ पहले क्षितिज दृष्टिगोचर होता था, वह स्थान अब शून्य है। आकाश और पृथ्वी एक-दूसरे को जो दृश्य दिखाते हैं वे इसी शून्य स्थान में दिखते हैं। इन दृश्यों को दिखाते हुए जब-जब वे एक-दूसरे से बातचीत करने लगते

हैं तब सामने के दृश्य लुप्त होकर वह स्थान पुनः शून्य हो जाता है ।]

आकाश—शुद्धोधन नरेश ने अपने राजकुमार सिद्धार्थ के लिए तीनों प्रधान ऋतुओं में प्रथक्-प्रथक् विहार करने के निमित्त जिन नौ, सात और पाँच खण्डों के तीन विशाल प्रासादों का कपिलवस्तु में निर्माण कराया था, उनका स्मरण दिलाने, पहले मैं तुम्हें उन्हीं को दिखाता हूँ ।

[सामने दूर पर तीन पाषाण निर्मित विशाल प्रासाद दिखायी देते हैं । तीनों प्राचीन भारतीय शिल्प के उत्तम उदाहरण हैं । उनके स्तम्भ, झरोखे, शिखर आदि सभी में विशालता ही विशालता दृष्टिगोचर होती है ।]

आकाश—रत्नगर्भा, इन प्रासादों की उस काल की वसुधा के समान संसार के किसी स्थान की वसुधा न थी, क्योंकि उस समय तुम्हारे संसार में भारत देश ही आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही दृष्टियों से सभ्यता के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर था । इन प्रासादों को भूली तो नहीं हो, प्रिये ?

पृथ्वी—कैसे भूलूँगी, व्योम, तुमने तो उन्हें ऊपर से देखा था, परन्तु मेरा और इनका तो सदा संसर्ग ही रहता था ।

आकाश—(पृथ्वी के निकट जा उसके गले में हाथ डालकर) परन्तु, इतने पर भी सिद्धार्थ ने इन प्रचुर आधिभौतिक सुखों को ठोकर मार मानव-समाज के उपकार का जो महान् प्रयत्न किया उसे भूल गयी हो ?

पृथ्वी—नहीं, वह भी मुझे स्मरण है।

आकाश—स्मृति को और भी स्पष्ट करने के लिए सिद्धार्थ के उन विहारों का भी अवलोकन करो। (**पृथ्वी के निकट से हट शून्य स्थान की ओर संकेत करते हुए**) वसन्त के अन्त और ग्रीष्म के आरम्भ में यह राजकुमार का जल-विहार है—

[सामने नौ खण्ड वाला प्रासाद दिखता है। उसके सम्मुख पुष्पों से भरा हुआ एक विशाल उद्यान दृष्टिगोचर होता है, जिसके बीच में एक रमणीय सरोवर है, जो चाँदनी में चमक रहा है। सरोवर के चारों ओर सुन्दर घाट बने हैं। घाटों पर शिखरदार छतरियाँ हैं। सरोवर में गान-युक्त जल-क्रीड़ा हो रही है, किन्तु क्रीड़ा करने वाले स्पष्ट नहीं दिखायी पड़ते, न गायन ही स्पष्ट सुन पड़ता है। धीरे-धीरे प्रासाद और उद्यान का बहुत-सा भाग छिपकर, सरोवर निकट से दिखने लगता है। सरोवर में सिद्धार्थ अनेक युवतियों के साथ जल-विहार कर रहे हैं। वे गौरवर्ण के अत्यन्त सुन्दर युवक हैं। वक्षस्थल तक शरीर जल में डूबा हुआ है। कानों में कुण्डल, ग्रीवा में हार, भुजाओं पर केयूर, हाथों में वलय हैं। सभी आभूषण विविध वर्णों के पुष्पों से बने हुए हैं। सिर खुला है जिस पर लम्बे बाल लहरा रहे हैं। उनके संग क्रीड़ा करने और गाने वाली युवतियाँ भी परम सुन्दरी हैं। उनके वस्त्र जल से गीले हो गये हैं। वे भी पुष्पों के आभूषण धारण किये हैं। गायन की ध्वनि भी स्पष्ट हो जाती है। बीच-बीच में कोकिल का कूजन सुन पड़ता है।]

आज शान्त हो सारा ताप ।
शिशिर-सलिल सीकर धो डालें उर का गुरु उत्ताप ।
तापित अङ्गों की तड़पन वह, वह अतृप्त-सी प्यास,
बुझे सदा को आज पूर्व ही मनो मुकुल में वास ;
दिवस जनित श्रम थकित अङ्ग का अपगत हो सन्ताप ।
आज शान्त हो सारा ताप ।
गुरु निदाघ से प्रकृति सुन्दरी मुरझाई हो म्लान,
मधुर सुधाधर सुधा सींचता, निज मृदु कर से स्नेह निधान ;
रसिक ! स्नेह-सिञ्चन से कर दो दूर विरह अभिशाप ।
आज शान्त हो सारा ताप ।

आकाश—अब सिद्धार्थ कुमार के वर्षा-विलास का अवलोकन करो—

[सामने सात खण्ड वाला प्रासाद दिखता है । उसके सामने एक मनोहर हरा-भरा उद्यान है, जिसके एक वृक्ष की एक शाखा में झूला पड़ा है, जो सन्ध्या के सुनहरे प्रकाश में चमक रहा है। यह प्रकाश बीच-बीच में बादलों से ढँक जाता है । दो व्यक्ति झूला झूल रहे हैं, और अनेक झूले के समीप खड़े हुए गा रहे हैं, किन्तु वे स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होते, न गायन ही स्पष्ट सुनायी पड़ता है। धीरे-धीरे प्रासाद और उद्यान का बहुत-सा भाग छिपकर जिस भाग में झूला पड़ा है, वह निकट से दिखने लगता है तथा गायन भी स्पष्ट रूप से सुन पड़ता है । सिद्धार्थ कुमार अपनी पत्नी राहुल देवी के संग झूल रहे हैं ।

राहुल देवी परम सुन्दर युवती है। सिद्धार्थ हरित कौशेय वस्त्र का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं; राहुल देवी भी हरित कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने हैं। उसी रंग का वस्त्र उसके वक्षस्थल पर बँधा है। दोनों हरित रत्नों के आभूषणों से सुसज्जित हैं, जो जगमगा रहे हैं। कई युवतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद्यों को बजा रही हैं; कई गा रही हैं। सभी परम सुन्दरी हैं और सभी हरित कौशेय वस्त्रों को धारण किये हैं तथा हरित मणियों के भूषण पहने हैं। इधर-उधर मयूर नृत्य कर बोल रहे हैं। बीच-बीच में पपीहे का शब्द सुन पड़ता है। कभी-कभी मेघ-गर्जन होता है और बिजली चमकती है।]

मनभावन, सखि ! सावन आया।
मेरी हरी हृदय-डाली में प्रिय ने आ झूला डलवाया।
मन-मयूर हैं मुदित बजाते श्यामल मेघ गंभीर मृदंग ;
रिमझिम बूँदों ने फैलाया हरियाली का जग में रंग ;
सुख के साज सजे जीवन में विरह-गीत आ किसने गाया ?
मनभावन, सखि ! सावन आया।
उफना पड़ता था लय-लय में उर का पीड़ामय उच्छ्वास ;
नयन-सलिल से आर्द्र वेदना काँप रही थी ले निश्वास ;
मम-मानस में वह स्वर-लहरी छोड़ गयी क्यों धूमिल छाया ?
मनभावन, सखि ! सावन आया।

आकाश—अब राजकुमार के शरद्काल का विहार देखो—

[सामने पाँच खंड वाला प्रासाद दिखता है। धीरे-धीरे वह

प्रासाद छिपकर उसकी विशाल छत दिखायी देती है। छत ज्योत्सना से चमक रही है। उस पर श्वेत वस्त्र की बिछावन तानकर बिछायी गयी है। छत के तीन ओर चमेली के पुष्पों की जाली बनी है। सामने की ओर हीरों से जड़ा 'शयन' (प्राचीन काल का एक प्रकार का सोफ़ा) रखा है। छत पर राहुल देवी के कंठ में भुजा डाले सिद्धार्थ टहल रहे हैं। दोनों श्वेत कौशेय वस्त्रों को धारण किये हैं और श्वेत हीरे मोतियों के आभूषण पहने हैं। आकाश में पूर्णचंद्र है।]

सिद्धार्थ—तुम्हारे संग तीनों ऋतुओं में विहार करते हुए ये वर्ष क्षणों के समान व्यतीत हो गये।

राहुल देवी—और मुझे तो ये क्षणों से भी कम जान पड़ते हैं, आर्य पुत्र !

सिद्धार्थ—(चन्द्रमा की ओर देख फिर राहुल देवी के मुख की ओर देखते हुए) इस पूर्ण शरद्चंद्र से भी तुम्हारा मुख कहीं अधिक मनोहर है, प्राणेश्वरी ! (मुख चूमते हैं।)

राहुल देवी—मेरे नाथ ? नहीं नहीं, यह तो आप अतिशयोक्ति करते हैं। (सिद्धार्थ का मुख देखकर चंद्रमा को देख और फिर सिद्धार्थ का मुख देखते हुए) हाँ, यह मुख अवश्य ही चंद्रमा से कहीं अधिक मनोहर है। (कुछ ठहर) नहीं नहीं, इस मुख के लिए तो चंद्रमा की उपमा देना ही अनुचित है। (फिर चंद्रमा की ओर देख) कहाँ वह कलंकी चंद्र और (सिद्धार्थ का मुख देख) कहाँ यह निष्कलंक मुख !

सिद्धार्थ—(राहुल का दृढ़ालिंगन करते हुए) संसार में हम लोगों से अधिक कौन सुखी है, हृदयेश्वरी ?

राहुल देवी—मानती हूँ कि देवता भी हमारे सुख को देख हम से ईर्षा करते होंगे, आर्य-पुत्र !

सिद्धार्थ—यह जीवन इसी प्रकार तुम्हारे संग आनन्द करते-करते बीत जाय, बस सिद्धार्थ की संसार में केवल यही अभिलाषा है।

राहुल देवी—मेरी अभिलाषा तो इससे अधिक है, प्राणेश !

सिद्धार्थ—वह क्या, देवि ?

राहुल देवी—यह, नाथ, कि बारम्बार शरीर धार मैं आप ही को अपना पति पाऊँ।

[सिद्धार्थ राहुल देवी का और भी दृढ़ालिंगन कर पुनः उसका मुख चूमते हैं। उसी समय वाद्य की ध्वनि सुन पड़ती है।]

सिद्धार्थ—यह तो नर्तकियां आ रही हैं। क्यों, प्राणाधिके, हमारे यहाँ का शरद्-पूर्णिमा का नृत्य, वृज में शरद-पूर्णिमा को जो रास हुआ था, उससे क्या कम आनन्ददायक होता है ?

राहुल देवी—हमारे कोई भी विहार कृष्ण के विहार से कम आनन्ददायी नहीं होते, नाथ। क्या नृत्य, क्या गायन, क्या झूला क्या जल-विहार......

[उसी समय कई युवतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद्य बजाती हुई आती हैं। सिद्धार्थ और राहुल देवी शयन पर बैठते हैं। कई युवतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के हाव-भाव का नृत्य

आरम्भ करती हैं। नृत्य के संग ही गायन भी होता है। सभी युवतियाँ श्वेत कौशेय वस्त्र धारण किये हैं तथा हीरे मोतियों के आभूषण पहने हैं। सारा श्वेत दृश्य चन्द्रमा की धवल किरणों में चमक दृष्टि को चकाचौंध कर देता है।]

करती विनय निशा बाला,
स्नेह-सने मेरे अंतर में रखना, हे शशि ! उजियाला।
शरद-संपदा के अधिकारी,
अथवा क्षययुत कांति तुम्हारी,
त्यक्त भावना मुझसे सारी,
मम-कर में स्वागत माला।
करती विनय निशा बाला।
मेरे श्यामल जीवन-जग में,
स्नेहालोक दिखा पग-पग में,
छली ! छोड़ छिपना मत मग में,
निठुर जलाना मत ज्वाला।
करती विनय निशा बाला !

आकाश—तुम कहती हो मनुष्य अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की इन्द्रियों को तृप्त करने में लगा हुआ है, परन्तु इन महान् विलासों को सिद्धार्थ ने किस प्रकार त्यागा यह तुम भूल गयीं। इन विलासों से सिद्धार्थ को जिस प्रकार वैराग्य हुआ उसका भी अवलोकन करो।

[सामने एक वन-मार्ग दिखायी देता है, जिस पर डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें पड़ रही हैं। मार्ग पर दूर से रथ आता

हुआ दृष्टिगोचर होता है। निकट आने पर ज्ञात होता है कि रथ में चार दीर्घकाय श्वेत रंग के सुन्दर अश्व जुते हैं। रथ पर स्वर्ण लगा है और उस पर भिन्न-भिन्न वर्णों के रत्न जड़े हैं। रथ में पीत कौशेय वस्त्र धारण किये सिद्धार्थ विराजमान हैं। भिन्न-भिन्न रंगों के रत्नों से जगमगाते हुए आभूषण उनके अंग-प्रत्यङ्गों की दीप्ति बढ़ा रहे हैं। सिर पर रत्न-जटित देदीप्यमान मुकुट लगा है। रथ को एक युवक सारथी हाँक रहा है। उसके वस्त्र भी पीले रंग के हैं और वह स्वर्ण के आभूषणों से सुसज्जित है। रथ के कुछ और आगे बढ़ने पर एक ओर से एक अत्यन्त वृद्ध मनुष्य लकड़ी टेकते हुए आता है।]

सिद्धार्थ—(वृद्ध को देख सारथी से) छन्दक, यह कौन है? इसका तो बड़ा विचित्र आकार है? सारा मांस सूखकर त्वचा पर झुरियाँ पड़ गयी है। सिर के केश श्वेत हो गये हैं। नेत्र धँस गये हैं और एक भी दाँत दृष्टिगोचर नहीं होता। हाथ में लकड़ी के होते हुए भी यह काँपता हुआ चल रहा है। इसकी यह दशा इसके किसी कौटुम्बिक दोष के कारण हुई है अथवा इसकी वृत्तियों ने ही इसे ऐसा बना दिया है?

छन्दक—आर्य, इसमें इसके कुटुम्ब का या इसका कोई दोष नहीं है। वृद्धावस्था ही इस दशा का कारण है।

सिद्धार्थ—तो क्या वृद्धावस्था में प्रत्येक मनुष्य की यही दशा होती है?

छन्दक—यही प्राकृतिक नियम है, देव।

[सिद्धार्थ लम्बी साँस लेता है । रथ आगे बढ़ता है । कुछ और आगे बढ़ने पर वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ एक रोगी दिखता है ।]

सिद्धार्थ—(रोगी को देख छन्दक से) छन्दक, कौन पड़ा है ? अरे इसके शरीर में तो अस्थिमात्र शेष हैं ! यह तो साँस तक बड़ी कठिनाई से ले सकता है ।

छन्दक—यह रोग-ग्रसित है, आर्य । कुछ ही क्षणों में इसकी मृत्यु हो जायगी ।

सिद्धार्थ—तो क्या मृत्यु के पूर्व सबकी यही अवस्था होती है ?

छन्दक—क्या कहूँ देव, प्राकृतिक नियम ही ऐसा है ?

सिद्धार्थ—(लम्बी साँस लेकर) ओह !

[रथ और आगे बढ़ता है । अरथी पर एक मृतक शरीर पड़ा हुआ दिखायी पड़ता है । उसके चारों ओर अनेक मनुष्य रो रहे हैं, अनेक छाती पीट रहे हैं, अनेक पछाड़ें खा-खाकर गिर रहे हैं, अनेक अपने बालों को नोच रहे हैं, अनेक अपने सिरों पर धूल डाल रहे हैं । कोलाहल मचा हुआ है ।]

सिद्धार्थ—(इस दृश्य को देख छन्दक से) छन्दक, यह कैसा करुण दृश्य है ?

छन्दक—किसी की मृत्यु हो गयी है, देव, उसका शरीर अरथी पर ले जाया जा रहा है । उसके बंधु-बांधव शोक से विलाप कर रहे हैं ।

सिद्धार्थ—(दीर्घ निःश्वास लेकर) हा ! छन्दक, धिक्कार है

इस यौवन को, जिसका वृद्धावस्था से नाश होता है, धिक्कार इस आरोग्यता को, जिसका रोग से नाश होता है, धिक्कार है इस जीवन को, जिसका अल्पकाल में मृत्यु से नाश हो जाता है। क्या सृष्टि में ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु को सदा के लिए वन्दी बनाया जा सके। छन्दक, शीघ्र ही प्रासाद की ओर चलो, मैं इस उपाय का चिन्तन करूँगा।

[रथ आगे बढ़ता है। कुछ आगे बढ़ने पर सामने से एक सन्यासी आता दिखायी देता है।]

सिद्धार्थ—(सन्यासी को देख छन्दक से) छन्दक, यह कौन है ?

छन्दक—यह परिव्रजित है, आर्य !

सिद्धार्थ—यह क्या करता है ?

छन्दक—इसने समस्त विषय-भोगों एवं उनकी इच्छाओं को जीत निज को लोकोपकार में लगा दिया है।

सिद्धार्थ—(प्रसन्न होकर) यही जीवन श्रेयस्कर है, छन्दक !

[छंदक कोई उत्तर नहीं देता। रथ आगे बढ़ता है। दृश्य परिवर्तन हो एक प्रासाद का महाद्वार दीख पड़ता है जिस पर कवच पहने हुए आयुधों से सज्जित अनेक प्रहरी घूम रहे हैं। सिद्धार्थ का रथ आता है।]

प्रधान प्रहरी—(रथ देख, आगे बढ़, सिद्धार्थ को अभिवादन करते हुए) बधाई है, आर्य ! बधाई है। श्रीमती पट्टमहिषी

राहुल देवी ने पुत्र प्रसव किया है।

सिद्धार्थ—(लम्बी साँस ले छन्दक से) छन्दक, यह नवीन बंधन उत्पन्न हुआ है।

[छन्दक फिर भी कोई उत्तर नहीं देता। रथ महाद्वार के भीतर प्रवेश करता है।]

आकाश—अब देखो, वसुन्धरा, सिद्धार्थ कुमार ने किस, प्रकार वैभवों का त्याग किया।

[सामने प्रासाद का एक विशाल कक्ष दिखायी देता है, जो सुगंधित तैल-दीपों से प्रकाशित है। कक्ष की छत स्थूल, ऊँचे, पाषाणस्तंभों पर स्थित है। स्तंभों के नीचे गोल कमलाकार चौकियाँ हैं और ऊपर गजशुण्ड के समान टोड़ियाँ। तीन भित्तियाँ हैं। स्तम्भों पर खुदाव का काम है। छत और भित्तियाँ सुन्दर रंगों से रँगी हैं। भित्तियों के किनारों पर बेलें बनी हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर रत्न जड़े हुए हैं। भित्तियों में यत्र-तत्र मनोहर चित्र बने हैं। तीनों ओर की भित्तियों में तीन द्वार हैं जिनकी चंदन की चौखटों तथा कपाटों पर खुदाव का काम है और वह श्वेत हाथी-दाँत से सुशोभित है। कक्ष की धरती पर फूलदार वस्त्र की बिछावन बिछी है और उस पर सुवर्ण के रत्न-जटित पायों का सुन्दर पलँग है। पलँग पर पुष्प-शैया है और उस पर सिद्धार्थ निद्रामग्न हैं। पलंग के चारों ओर बिछावन पर तकियों के सहारे अनेक युवतियाँ लेटी हैं। सभी निद्रित हैं। किसी-किसी के अंगों पर के वस्त्र हट गये हैं। किसी के मुख

पर कफ आ गया है, कोई दाँत किटकिटा रही है और कोई बर्रा रही है। अनेक वाद्ययंत्र यत्र-तत्र पड़े हुए हैं। सिद्धार्थ एकाएक जागकर पलंग पर बैठ जाते हैं। हाथों से आँखों को मलते हुए इधर-उधर देखने लगते हैं; फिर कुछ देर तक तिरस्कार और घृणापूर्ण दृष्टि से मुख को सिकोड़ते हुए निद्रित युवतियों को देखते हैं। एकाएक उठकर एक द्वार के निकट जा, उसे खोलते हैं।]

सिद्धार्थ—यहाँ कौन है ?

[बाहर से 'मैं छन्दक हूं, आर्य।' इस प्रकार का शब्द आता है और छन्दक उसी द्वार से कक्ष में प्रवेश करता है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है, फिर धीरे-धीरे सिद्धार्थ छन्दक से कहते हैं।]

सिद्धार्थ—(युवतियों की ओर संकेतकर) देखते हो, छन्दक, यह वीभत्स दृश्य ! वृद्ध, रुग्ण और मृतक अवस्था में ही क्यों अचेतावस्था में भी मनुष्य की कैसी दशा हो जाती है इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। बिम्बाफल और प्रवाल के समान अधरों के जिस दुर्लभ अधरामृत को पान करने के लिए मनुष्य ऐसा मोहान्ध हो जाता है कि उसे भूत, भविष्य और वर्तमान किसी का ज्ञान नहीं रहता, देखो, वही इस समय इन युवतियों के अधरों से किस प्रचुरता और वीभत्सता से बह रहा है। कुन्दकली और मुक्ताओं के सदृश जिस दन्तावली की मुसकान को निरखने में अपनी समस्त सुध-बुध भूल मनुष्य विक्षिप्तवत् हो जाता है, सुनो, उन्हीं दांतों की यह भीषण

किटकिटाहट। जिनके कण्ठ से कोकिल के कूजन का-सा मधुर गान निकलता है और मनुष्य को मदोन्मत्त कर देता है, सुन लो उन्हीं की यह बर्राहट! आह! छन्दक, मैंने इन अनित्य और क्षणिक सुखों को भोगने में अपना न जाने कितना अमूल्य समय और शक्ति का व्यय कर डाला। बस, छन्दक, बस, अब और नहीं, अब इस बंधन में मैं क्षणमात्र भी नहीं रह सकता। मैं आज ही महा-निष्क्रमण करना चाहता हूं। बिना किसी को जताये, गुप्त रूप से तत्काल मेरा अश्व प्रस्तुत करो।

छन्दक—(हाथ जोड़कर) आर्य, मैं तो आपका दास हूँ, जो आपकी आज्ञा होगी वही करूंगा. किन्तु....(रुक जाता है।)

सिद्धार्थ—मेरे आज्ञा-पालन में किन्तु-परन्तु, छन्दक?

छन्दक—देव, आज पर्यन्त आपके आज्ञा-पालन में कभी भी मैंने किन्तु-परन्तु का उपयोग नहीं किया। जब कभी भी जो आज्ञा आपने दी उसका तत्क्षण पालन किया। आज संध्या को वायु-सेवन के समय से ही आपकी मानसिक अवस्था में जो परिवर्तन हो रहा है उसे मैंने भलीभाँति देखा है। इतने पर अब तक मैंने इसीलिए कुछ निवेदन नहीं किया कि मेरा अनुमान था कि यह परिवर्तन क्षणिक है। इस परिवर्तन में पुनः परिवर्तन होगा, परन्तु अब जब आप मुझे सब कुछ छोड़कर प्रयाण करने के लिए अश्व प्रस्तुत करने की आज्ञा दे रहे हैं तब तो, आर्य, सचमुच ही मुझसे कुछ कहे बिना नहीं रहा जाता।

सिद्धार्थ—कहो, तुम क्या कहना चाहते हो?

छन्दक—(कुछ रुककर दीर्घनिश्वास ले) जन्म के पश्चात् आपका जिस प्रकार लालन-पालन हुआ है, जिस प्रकार के विलासों को भोगते हुए आपने अब तक जीवन व्यतीत किया है, उस, और जिस प्रकार का जीवन अब आप ग्रहण करना चाहते हैं, उसमें, कितना महान् अन्तर होगा, आप परिव्रजित के कठिन व्रतों को किस प्रकार सहन कर सकेंगे, यह आपका अत्यन्त मृदु और कोमल शरीर उस कठिनतम कष्ट को कैसे सहेगा, यह सब आपने विचारा है ? आपके वियोग से महाराज शुद्धोधन की क्या दशा होगी, पट्टमहिषी राहुलदेवी तथा अन्य महिषियाँ गोपादेवी आदि की क्या अवस्था होगी, आज ही जिनका जन्म हुआ है उन आपके राजकुमार......

सिद्धार्थ—(बीच ही में) छन्दक, मैंने यह सब सोच लिया है। आज संध्या से मेरे मानसिक परिवर्तन का चाहे तुमने अवलोकन कर लिया हो, किन्तु जो भीषण युद्ध मेरे हृदय में मचा हुआ था उसका अनुमान तुम्हें नहीं हो सकता। एक ओर अब तक भोगे हुए विलासों की स्मृतियाँ तथा पिता, पत्नी आदि का प्रेम और दूसरी ओर इन सभी की अनित्यता, इस महायुद्ध की दो महान् सेनाएँ थीं, किन्तु, छन्दक, अंत में प्रथम सेना पर दूसरी सेना की विजय हुई। तुम पूछते हो मैं परिव्रजित का कठिनतम जीवन कैसे सहूँगा और कैसे मेरे पिता और पत्नी आदि मेरे वियोग को सहेंगे ?

छन्दक—अवश्य, देव।

सिद्धार्थ—मनुष्य सब कुछ सह सकने की शक्ति रखता है, छन्दक, इसका मुझे आरम्भ से ही विश्वास रहा है। मैं अपने दृढ़

निश्चय के कारण परिव्रजित के कठिन जीवन को सह लूँगा। और पिता-पत्नी आदि अन्य कोई उपाय न देख मेरे वियोग को सह लेंगे। फिर, मेरा और पिता, पत्नी आदि का यह कष्ट अस्थायी होगा, स्थायी नहीं।

छन्दक—यह किस प्रकार, आर्य ?

सिद्धार्थ—मुझे विश्वास है कि मैं स्थायी सुख-प्राप्ति का उपाय ढूँढ़ निकालूँगा। जो आधिभौतिक सुख अभी मैं भोग रहा हूँ, और संसार भोग रहा है, वे स्थायी नहीं हैं। मैं तो ऐसा मार्ग ढूँढ़ूँगा, जिससे मुझे और संसार को स्थायी सुख प्राप्त हो। उस मार्ग की प्राप्ति के पश्चात् मेरे कठिन जीवन का दुःख और वियोग के कारण पिता, पत्नी आदि का क्लेश कहाँ रह जायगा ? मैं अपने और समस्त संसार के कष्टों की निवृत्ति कर दूँगा। हाँ, आरम्भ में कष्ट पाये बिना किसी को किसी भी महान् वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई।

छन्दक—किन्तु, देव....

सिद्धार्थ—(बीच में) अब किन्तु-परन्तु नहीं, छन्दक ! जिसे मैंने केवल अपना साथी और अनुचर नहीं किन्तु अपना सखा और मित्र माना है, वही क्या मेरे इस महानुष्ठान में बाधक होगा ?

[छन्दक चुप रहता है। उसी समय कुछ युवतियाँ करवट आदि बदलती हैं।]

सिद्धार्थ—(छन्दक से और भी धीरे-धीरे) अब और वाद-विवाद नहीं, छन्दक ! देखो, हमारे इस वार्तालाप से स्त्रियाँ जाग-सी रही हैं। यदि ये जाग गयीं तो व्यर्थ को मेरे गमन में आपत्ति

उपस्थित होगी। तुम मेरी प्रकृति से भलीभाँति परिचित हो, जो मैंने निश्चय कर लिया है उसे कोई परिवर्तित नहीं कर सकता; फिर वृथा के लिए क्यों एक करुण दृश्य की रचना कराते हो ? (छन्दक के कंधे को हाथ से थपथपाते हुए) जाओ, शीघ्र ही अश्व प्रस्तुत करो। मैं अभी नवजात पुत्र को एक बार अंक में ले, वस्त्र आदि पहनकर बाहर आता हूँ।

[सिद्धार्थ कक्ष की दूसरी ओर का द्वार खोल कक्ष के बाहर जाते हैं। छन्दक भी सिर नीचा किये हुए जिस द्वार से कक्ष में आया था उसी से धीरे-धीरे बाहर हो जाता है। दृश्य इसी कक्ष के सदृश एक अन्य कक्ष में परिवर्तित हो जाता है। उसमें जो पलँग बिछा हुआ है उस पर राहुल देवी निद्रामग्न हैं। निकट ही उनका पुत्र सोया हुआ है। पुत्र के मस्तक पर राहुलदेवी का हाथ है। सिद्धार्थ का प्रवेश। वे शनैः शनैः शैया के निकट जाते हैं। कुछ देर एकटक पत्नी और पुत्र की ओर देखते हैं, फिर दीर्घ निश्वास छोड़ते हैं। उस समय उनके नेत्रों से दो बड़े-बड़े अश्रु-बिंदु टपक पड़ते हैं। नेत्रों को पोंछ वे झुक-कर पत्नी तथा पुत्र को देखते हैं; पुत्र को उठाने के लिए दोनों हाथ बढ़ाते हैं, पर एकाएक रुक जाते हैं; कुछ समय तक खड़े-खड़े, चुपचाप पत्नी और पुत्र को देखते रहते हैं; कुछ देर दृष्टि पत्नी के मुख की ओर रहती है फिर पुत्र की ओर घूमती है और फिर पुत्र से हट पत्नी की ओर। अन्त में वे बिना पुत्र को गोद में लिए शीघ्रता से कक्ष के बाहर निकल जाते हैं। दृश्य

प्रासाद के बाहरी भाग में परिवर्तित हो जाता है। चाँदनी फैली हुई है। छन्दक एक दीर्घकाय श्वेत अश्व के साथ खड़ा है। सिद्धार्थ का प्रवेश। अब वे मुकुट आदि लगाये हुए हैं।]

सिद्धार्थ—(अश्व के निकट आ, उस पर आरूढ़ होते हुए अश्व को संबोधन कर) तात कन्थक, आज रात्रि में तू मुझे तार दे; मैं तेरी सहायता से बुद्ध हो समस्त संसार को तारूँगा। **(छन्दक से)**, अच्छा, छन्दक! तुम से भी विदा लेता हूँ। तुमने मेरी अब तक जो सेवा की है और आज मेरे महानुष्ठान में जो सहायता पहुँचायी है उसके लिए मैं सदा कृतज्ञ रहूँगा। आशा है, अपने मार्ग का अनुसंधान कर मैं शीघ्र ही तुम से मिलूँगा।

छन्दक—(आँसू बहाते हुए गद्गद् कण्ठ से) मैं आपसे पृथक् रहूँ, यह असम्भव है, आर्य, मैं आपके संग चलूँगा, अवश्य चलूँगा।

सिद्धार्थ—किन्तु....

छन्दक—(जल्दी से) इसमें आप भी किन्तु-परन्तु न करें, आर्य, नहीं तो मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा।

सिद्धार्थ—(कुछ सोचकर) अच्छा, चलो, छन्दक, कुछ दूर तक चले चलो।

छन्दक—कुछ दूर तक नहीं, देव, जहाँ तक आप जायँगे वहाँ तक, अवश्य वहाँ तक; और जहाँ जिस प्रकार आप रहेंगे वहीं उसी प्रकार मैं भी रहूँगा।

[सिद्धार्थ कोई उत्तर न दे अश्व को आगे बढ़ाते हैं। छन्दक अश्व की बाग पकड़ उसके संग दौड़ता हुआ जाता है। दृश्य

परिवर्तित हो अनोमा (वर्तमान औमी) नदी का तीर दिखायी देता है। सघन वृक्ष हैं। प्रातःकाल का प्रकाश शनैः शनैः फैल रहा है। अश्व पर सिद्धार्थ का प्रवेश। साथ में छन्दक भी है। नदी के निकट आकर सिद्धार्थ घोड़े से उतरते हैं और उसकी गर्दन को हथेली से प्रेम-पूर्वक थपथपाते हुए कहते हैं।]

सिद्धार्थ—कन्थक, तूने मुझे तार ही दिया, मुझे विश्वास है कि मैं संसार को तारने की अपनी प्रतिज्ञा भी पूरी करूँगा। तुझ पर बैठ मैं कैसे-कैसे सुन्दर स्थानों को गया हूँ, अनेक बार मृगया की है, किन्तु अब तेरा संग भी छोड़ता हूँ।

[घोड़ा हिनहिनाता और अगले पैर के टाप से पृथ्वी खोदता है। उसकी आँखों से पानी बहता है।]

सिद्धार्थ—(छन्दक से) छन्दक, देखते हो, इसकी आँखों से भी आँसू निकल रहे हैं। क्या यह मेरी बात समझता है कि सदा के लिए इसका और मेरा साथ छूट रहा है?

[इसी समय घोड़ा लड़खड़ाकर गिर पड़ता है और तत्काल उसकी मृत्यु हो जाती है।]

सिद्धार्थ—(आश्चर्य से) हैं, यह क्या, यह क्या छन्दक! इस अश्व ने तो अपने प्राण ही दे दिये। इतना मोह! इतना मोह!

[छन्दक के नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। वह बोलने का प्रयत्न करता है, पर गला रुकने के कारण वह खखारकर रह जाता है। सिद्धार्थ घोड़े के मृत शरीर पर हाथ फेरते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। फिर वे नदी के और भी निकट बढ़ पानी

के पास बैठ जाते हैं। छन्दक भी उनके निकट जाकर खड़ा हो जाता है।]

सिद्धार्थ—छन्दक, इस अश्व ने मुझे बड़ी सहायता दी है। इसका अंतिम संस्कार भलीभाँति कर देना, और देखो, मैंने तुम्हें मार्ग-भर समझाया है, अब तुम भी और आगे न चलो। संग आने का तुम्हारा हठ भी अब पूर्ण हो गया और अब मेरी आज्ञा का पालन करो। भृत्य का मुख्य कर्तव्य स्वामी का आज्ञापालन है। मोहवश कर्तव्यच्युत मत हो, छन्दक। मैं तुमसे बहुत शीघ्र मिलूँगा, इसका विश्वास रक्खो। देखो, जो साधना मैं करना चाहता हूँ उसमें एकांत की आवश्यकता है। जिसके लिए मैंने समस्त राज-पाट, प्रासाद, उद्यान, वैभव-विलास, पिता-पत्नी आदि को छोड़ा, उसमें बाधा-स्वरूप होना तो तुम न चाहोगे? मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम सराहनीय है, किन्तु तभी तक जब तक वह मोह में परिणत न होवे।

[छन्दक जोर से रो पड़ता है।]

सिद्धार्थ—धैर्य रखो, छन्दक, और इस विश्वास पर धैर्य रक्खो, कि मैं तुमसे बहुत शीघ्र मिलूँगा। (अपना मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, वलय आदि समस्त भूषणों को एक-एक कर उतारते और छन्दक को देते हुए) ये सब आभूषण भी ले जाओ, अन्य सब संगों के साथ मैं इनका संग भी छोड़ता हूँ। मेरे भावी जीवन में इनका कोई स्थान नहीं है।

[छन्दक कुछ न कह काँपते हुए हाथों से आभूषणों को ले लेता है।]

सिद्धार्थ—पिता, पत्नियों आदि सभी को सांत्वना देना और कहना कि आपके पुत्र और पति ने केवल अपने तारने का नहीं किन्तु संसार को तारने का संकल्प किया है। यथार्थ में तो मेरी यह कृति उनके शोक का कारण न होकर आनंद का कारण होना चाहिए; किन्तु मोह के कारण इस प्रकार की कृतियाँ प्रायः शोक का ही कारण होती हैं। मुझे विश्वास है, छन्दक, कि संसार के मोह के साथ ही उनके मोह का भी शीघ्र ही नाश करूंगा।

[छन्दक के मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता।]

सिद्धार्थ—(**खड्ग निकाल अपने लम्बे केशों को काट नदी के प्रवाह में बहाते हुए**) जाओ केशो, जाओ। इस शरीर में तुम मुझे सब से अधिक प्रिय थे। अनेक सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग कर मैं तुम्हें न जाने कितने समय तक और कितने बार संवारा करता था। अब तुम्हारे संग का बन्धन भी मैं तोड़ देना चाहता हूं।

आकाश—मेदिनी, महावैभव का परित्याग और सच्चे सुख को प्राप्त करने की इच्छा सिद्धार्थ को केवल अपने तारने के लिए नहीं, किन्तु संसार को तारने के लिये हुई थी। उनके हृदय में अपने तारने का स्वार्थ भी न था। हां, संसार को तारने के पूर्व संसार किस प्रकार तारा जा सकता है इसे जानना आवश्यक था। इसी मार्ग की खोज के लिए सिद्धार्थ ने उरुवेला में नेरंजना नदी के तट पर षट् वर्ष तक जो घोर तप किया वह तुम्हें अब स्मरण आ गया होगा। कहाँ महान् विलासपूर्ण जीवन में पला हुआ उनका अत्यन्त सुकुमार शरीर और कहाँ घोर तप! कहाँ उनके ग्रीष्म, वर्षा और शरद के वे विविध प्रकार

के विहार और कहाँ ग्रीष्म के प्रखर सूर्य, वर्षा की मूसलाधार वृष्टि और शरद् एवं हेमंत की कड़कड़ाती हुई शीत का शरीर पर ही सहन करना ! किन्तु संसार के दुखों की निवृति के लिए उन्होंने सभी कुछ सहन किया। तुम्हें स्मरण होगा कि अन्त में तो उन्होंने भोजन करना भी छोड़ दिया था। वह सारा वृत्त भलीभांति स्मरण दिलाने के लिए मैं तुम्हें बोधि-वृक्ष के नीचे उनके तप का दृश्य दिखाता हूं। षट् वर्ष के तप के पश्चात् उनकी कैसी दशा हो गयी है, इसका अवलोकन करो। उनके निकट अन्य पांच परिव्रजित भी उनकी सेवा में संलग्न हैं।

[सामने उरुवेला (वर्तमान बोध गया) में नेरंजना (वर्तमान नेलाजन) नदी के किनारे बोधि-वृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर सिद्धार्थ एक आसन से बैठे हुए ध्यान मग्न हैं। निकट ही पाँच संन्यासी बैठे हैं। प्रातःकाल के सूर्य से सारा दृश्य आलोकित है। सिद्धार्थ का गौर वर्ण शरीर रुक्ष, श्याम और दुर्बल हो गया है। वे 'चीवर' (भिक्षुओं के वस्त्र) धारण किये हैं। सारा शरीर भूषणों से रहित है। कुछ देर पश्चात् सिद्धार्थ खड़े होकर चबूतरे पर टहलने लगते हैं, पर निर्बलता के कारण एकाएक गिर पड़ते और मूर्छित हो जाते हैं। पाँचों संन्यासी शीघ्रता से उन्हें सम्हालते और उनके मुख पर पानी छिड़क वस्त्र से हवा करते हैं। कुछ समय में उन्हें चेतना होती है। वे धीरे-धीरे उठकर इधर-उधर देखते हैं।]

एक संन्यासी—अब कैसा स्वास्थ्य है, आर्य ?

सिद्धार्थ—अच्छा है, किन्तु, कौंडिन्य आज मुझे निश्चय हो गया है कि यह दुष्कर तप बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग नहीं है।

कौंडिन्य—फिर, देव?

सिद्धार्थ—अन्य किसी मार्ग को खोजना होगा। मैं आज से भोजन आदि पुनः आरम्भ करूँगा।

कौंडिन्य—(आश्चर्य से) अच्छा!

[कौंडिन्य और शेष चारों संन्यासी आश्चर्य से सिद्धार्थ की ओर देखते हैं।]

आकाश—इस प्रकार की तपस्या को त्याग ज्योंही सिद्धार्थ ने भोजनादि आरम्भ किया त्योंही उन्हें प्रपंची मान, और यह विचार कि छः वर्ष के घोर तप के पश्चात् भी जब यह बुद्ध न हो सके तब अब भोजनादि ग्रहण करने के पश्चात् क्या बुद्ध होंगे, वे पाँचों परिव्रजित उन्हें छोड़ ऋषिपतन चले गये थे, यह तुम्हें स्मरण होगा, किन्तु इतने घोर तप के पश्चात् अपनी खोज में सफल न होने पर भी दृढ़प्रतिज्ञ सिद्धार्थ निराश न हुए, उनके संगियों के उन्हें त्याग देने पर भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनन आरम्भ किया। अन्त में उसी बोधि-वृक्ष के नीचे उन्हें जिस प्रकार सफलता मिली उसका भी अब तुम्हें स्मरण आ गया होगा! देखो, सिद्धार्थ बुद्ध होने के पश्चात् एक साधु-संप्रदाय के प्रमुख से क्या कह रहे हैं।

[सामने फिर पूर्व का-सा दृश्य दिखायी देता है। बोधि-वृक्ष

के नीचे सिद्धार्थ खड़े हुए हैं। इनके सामने एक संन्यासी खड़ा है।]

संन्यासी—तो, आर्य, मनन और आचरण-द्वारा आप बुद्ध हुए ?

सिद्धार्थ—हाँ, साधु, मनन और आचरण द्वारा। अब मैं सब को पराजित करनेवाला, साथ ही सबको जाननेवाला हूँ। मैं अर्हत हूँ, बुद्ध हूँ। निर्वाण-प्राप्त हूँ। अपने को मैंने जान लिया है, अत: अब मैं अन्यों को उपदेश करने योग्य हो गया। स्वयं प्रकाश में रहने के कारण अब मैं अँधेरे लोक में प्रकाश फैलाऊँगा।

आकाश—देखो, प्रिये, बुद्ध-पद की प्राप्ति के पश्चात् भी अँधेरे लोक में प्रकाश फैलाना बुद्धदेव का उद्देश्य है।

पृथ्वी—परन्तु वह प्रकाश कहाँ तक फैल सका ?

आकाश—वह भी देखो, वह सब भी तुम्हें दिखाता हूँ। पहले तो यही सुनो कि बुद्धदेव की दृष्टि से अँधेरे लोक में प्रकाश फैलाने का क्या अर्थ है। तुम्हें स्मरण आ गया होगा कि यह उन्होंने सर्व-प्रथम ऋषिपतन जाकर उन्हीं पाँचों परिव्रजकों को सुनाया था, जो उन्हें छोड़कर चले गये थे। उनका कथन उन्हीं के मुख से सुन लो।

[**सामने ऋषिपतन (वर्तमान सारनाथ) में गङ्गा का तट दृष्टिगोचर होता है। मध्याह्न का समय है। सूर्य के प्रकाश से गंगा का जल और चारों ओर का दृश्य चमक रहा है। गंगातट पर कुछ व्यक्ति बैठे हुए दिखायी देते हैं। धीरे-धीरे जब वे व्यक्ति निकट से दिखायी पड़ते हैं तब ज्ञात होता है कि उनकी संख्या**

छः है । उनमें से एक बुद्ध दूसरे कौंडिन्य तथा शेष चार कौंडिन्य के साथी संन्यासी हैं ।]

कौंडिन्य—तो आपको बुद्ध पद प्राप्त हो गया ?

बुद्ध—हाँ, कौंडिन्य, और अपने इस महान् अनुभव को सर्वप्रथम तुम पाँचों मित्रों को बताकर फिर मैं उसका समस्त विश्व में प्रचार कर विश्व के दुःखी निवासियों को सुखी करूँगा ।

कौंडिन्य—किन्तु, आर्य, षट् वर्ष के घोर तप से जो वस्तु आप प्राप्त न कर सके उसे इतने अल्पकाल में ही आपने क्योंकर प्राप्त कर लिया ?

बुद्ध—जीवन की विविध अवस्थाओं का सतत अवलोकन, अनुभव और उस पर मनन द्वारा !

कौंडिन्य—यह कैसे देव ?

बुद्ध—देखो, कौंडिन्य, मैंने महान् विलासों को भी भोगा है और तुम सबों के सम्मुख घोर तप भी किया है । मनन-द्वारा मुझे निश्चय हो गया कि निर्वाण की प्राप्ति अर्थात् अपने और सृष्टि के यथार्थ रहस्य को जान जीवन्मुक्त की स्थायी सुखी अवस्था को पहुँचने के लिए विलासपूर्ण जीवन यदि मनुष्य को अन्धा बना देता है तो घोर तप भी निरर्थक है ।

कौंडिन्य—किस प्रकार, आर्य ?

बुद्ध—निर्वाण-प्राप्ति के लिए भी यह शरीर ही साधन है । तप से इसका क्षय होता है ।

कौंडिन्य—तब, देव ?

बुद्ध—एक ऐसे मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिस पर चलने से विषयेच्छा पर विजय प्राप्त हो जावे और शरीर की भी रक्षा हो; निर्वाण की प्राप्ति तभी हो सकती है।

कौडिन्य—आपको यह मार्ग मिल गया, देव?

बुद्ध—हाँ, मैंने इस मार्ग को ढूंढ़ लिया है। इसके आठ अंग हैं।

कौडिन्य—कौन-कौन-से, आर्य?

बुद्ध—दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति और तल्लीनता की सम्यकता। देखो, कौडिन्य,. मैंने मनन के पश्चात् जाना है कि चार सत्य हैं। पहला सत्य है—पाँच प्रकार के दुःख अर्थात् जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग। दूसरा सत्य है—इन दुःखों का कारण तृष्णा। तीसरा सत्य है—तृष्णा का निवारण। और चौथा सत्य है—तृष्णा के निवारण के लिए आचरण अर्थात् जिस प्रकार के मार्ग पर मैंने चलने को कहा, उसका अनुसरण।

कौडिन्य—आपके कथन का तो यह अर्थ होता है, आर्य, कि ज्ञान और कर्म के उचित मिश्रण से ही निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

बुद्ध—अवश्य। 'धम्म' अर्थात् दर्शन और 'विनय' अर्थात् आचार अथवा दूसरे शब्दों में 'प्रज्ञा' और 'शील' अथवा तुम्हारे शब्दों में ज्ञान और कर्म के उचित मिश्रण से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। मेरे कहे हुए ज्ञान के पश्चात् मेरे बनाये हुए अष्टांगिक मार्ग

पर चलने और आठों प्रकार की सम्यकता के कभी भीं नष्ट न होने की अवस्था के प्राप्त होते ही मनुष्य 'अर्हत' और 'बुद्ध' हो जाता है, क्योंकि उसके पश्चात् उसे सृष्टि की भिन्नता का आभास ही नहीं होता। जिस प्रकार समस्त समुद्र में एक ही स्वाद है उसी प्रकार समस्त सृष्टि में भी एकता ही विद्यमान है। पृथकत्व का निरीक्षण ही दुःख उत्पन्न करता है। एकता के अनुभव के पश्चात् स्थूलदृष्टि से दिखनेवाले जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग कहाँ रह जाता है? कहाँ रह जाता है स्वार्थ? निजता कहाँ रह जाती है और कहाँ उसकी पूर्ति की तृष्णा?

कौडिन्य—किन्तु आठों प्रकार की सम्यकता के कभी नष्ट न होने की अवस्था तो बड़ी कठिन है।

बुद्ध—निस्संदेह, विना इसके यह जानते हुए भी कि सृष्टि में एकता विद्यमान है, उस एकता का अनुभव नहीं हो सकता। किसी बात को जानना एक बात है और उसका अनुभव करना दूसरी। इस अनुभव के बिना निर्वाण-पद की प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु प्रयत्न से वह अवस्था सबको प्राप्त हो सकती है, चाहे वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी हों, चाहे वे पुरुष हों, या स्त्री।

आकाश—तुम्हें स्मरण होगा, प्रियतमे, कि पहले-पहल कौडिन्य और उसके साथी चारों परिव्रजित बुद्ध देव के शिष्य हुए। यह भी तुम्हें स्मरण आ गया होगा कि शनैः शनैः बुद्ध के इस उपदेश को उस काल के राजा और रंक, धनी और निर्धन, सभी ने श्रद्धापूर्वक सुना और ग्रहण किया। उस पर चल सहस्रों और लाखों नर-नारी

अपने व्यक्तिगत समस्त स्वार्थों को छोड़, भिक्षु-भिक्षुणी हो, समस्त सृष्टि को अपने समान जान, उसकी सेवा में दत्तचित्त हो गये। बुद्धदेव के पिता, पत्नी, पुत्र और छन्दक भी उनके अनुयायी हुए। मृत्यु के पूर्व अस्सी वर्ष की अवस्था तक अर्थात् बुद्ध-पद प्राप्ति के पश्चात् लगभग पैंतालीस वर्ष बुद्धदेव ने भी स्वय घूम-घूम कर अपने इस धर्म का उपदेश किया और स्वयं दीन-दुखियों की सेवा की। वे वर्षा के चार मास तक किसी एक स्थल पर निवास करते और आठ मासों तक भ्रमण करते रहते थे। यह देखो, प्रथम उपदेश के अनेक वर्षों के पश्चात् बुद्ध एक महती सभा में भाषण कर रहे हैं। इस सभा में नर-नारी, राजा-रंक, धनवान-निर्धन, गृहस्थ-भिक्षु सभी उपस्थित हैं।

[सामने दूर पर एक बड़ी भारी सभा दृष्टिगोचर होती है। मनुष्यों का समुद्र-सा दिखायी देता है। पुरुष, स्त्री तथा सभी वर्गों के व्यक्ति उपस्थित हैं। शनैः शनैः वह स्थान निकट से दिखने लगता है, जहाँ व्यास-पीठ पर विराजे हुए बुद्धदेव उपदेश कर रहे हैं। अब वे वृद्ध हो गये हैं। सारा दृश्य डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से चमक रहा है।]

बुद्ध—चाहे कोई भिक्षु हो या गृहस्थ, उसे हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण, चुगली, कठोर-वचन, व्यर्थ-बकवाद, लोभ, द्रोह और मिथ्या-सिद्धान्त ये दस प्रकार के 'चिप्रतिसार' अर्थात् चित्त को मलिन करनेवाली बातों को छोड़ सत्य-धारणा युक्त हो, समस्त सृष्टि के प्रति प्रेम-भावना रख लोकोपकार में दत्तचित्त होना चाहिए।

['धन्य है', 'धन्य है' 'भगवान् अर्हत की जय' 'भगवान् बुद्ध की जय' इत्यादि शब्द होते हैं ।]

बुद्ध—बन्धुओ ! सद्भावनाओं में प्रेम का मुख्य स्थान है । जिस प्रकार तारिकाओं में कोई भी तारिका चन्द्रमा की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है, उसी प्रकार सद्भावनाओं में कोई भी भावना प्रेम-भावना के सोलहवें भाग के तुल्य नहीं है । प्रेम अन्य समस्त सद्भावनाओं को उसी प्रकार अपने अन्तर्गत कर लेता है जिस प्रकार प्रातःकाल का प्रकाश समस्त तारिकाओं को, और वह हृदय के सारे अन्धकार को नष्ट कर उसी प्रकार चमकने लगता है, जिस प्रकार वर्षा के अन्तिम मास में बादल को नष्ट कर सूर्य ।

[पुनः जय जयकार होता है ।]

आकाश—(पृथ्वी के निकट आ उसका आलिंगन करते हुए) हे बुद्धिमती इला, बौद्ध-काल के कुछ इधर-उधर ही तुम्हारे भारत देश में महावीर स्वामी, और तुम्हारे चीन देश में कन्फ्यूशियस लाओज आदि महापुरुषों ने भी ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया था । बुद्ध से सम्बन्ध रखनेवाले इन दृश्यों को देखकर और महावीर स्वामी कन्फ्यूशियस लाओज आदि का नाम सुन कर तुम्हें इनकी कृतियों का भी स्मरण आ गया होगा । इसलिए इनसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्य तुम्हें नहीं दिखाता । (कुछ रुककर) तुम्हारी ही सृष्टि में जो कुछ हुआ है उसे मेरे इस प्रकार स्मरण दिला देने पर भी क्या तुम कह सकती हो कि मनुष्य ने सृष्टि की एकता के ज्ञान को

पाकर उसका अनुभव नहीं किया और उसके कर्म इस ज्ञान के अनुरूप नहीं हुए ?

पृथ्वी—मैं तो अभी यही कहूँगी, तारापथ ?

आकाश—कैसे, प्रिये ?

पृथ्वी—मैंने पहले ही कहा था कि सामूहिक रूप से मनुष्य ने इस ज्ञान का अनुभव नहीं किया और उसके कर्म इस ज्ञान के अनुरूप नहीं हैं। बुद्धदेव के पश्चात् उनके धर्म का क्या हुआ, यह कदाचित् तुम भूल गये हो ?

आकाश—नहीं-नहीं, मुझे तो वह भी स्मरण है। सामूहिक रूप से तो यथार्थ में बुद्ध के पश्चात् ही बौद्धमत का प्रचार हुआ था। परन्तु तुम उसे भी भूल गयी दिखती हो। जान पड़ता है, उसका स्मरण दिलाने के लिए तुम्हें वे दृश्य भी दिखाने होंगे ?

पृथ्वी—दिखालो, प्राणेश, जो कुछ तुम दिखाना चाहते हो, पहले वह सब दिखालो; फिर मैं भी तुम्हें कुछ दिखानेवाली हूँ।

आकाश—उसे मैं अवश्य देखूँगा। **(पृथ्वी के निकट से हट सामने की ओर संकेत कर)** देखो, प्रिये, अब बुद्धदेव के पश्चात् उन सम्राट् अशोक की सभा का अवलोकन करो, जिन्होंने बौद्ध धर्म को ग्रहण कर युद्ध को सदा के लिए त्याग दिया था और यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्ध द्वारा नहीं, किन्तु सद्धर्म द्वारा संसार को विजय करूँगा। जो सभा मैं तुम्हें दिखा रहा हूँ वह अशोक के बौद्धधर्म ग्रहण करने के एक युग अर्थात् बारह वर्ष पश्चात् की है और युगपूर्ण होने पर वे सद्धर्म ग्रहण करने का उत्सव मना रहे हैं। इस सभा को देखकर

संसार में उन्होंने बौद्धमत के प्रचार और प्रजा के उपकार के लिए जो कुछ किया था उस सबका तुम्हें स्मरण हो आयेगा।

[सामने सम्राट् अशोक का विशाल सभा-भवन दृष्टिगोचर होता है। यह भवन बौद्धकालीन शिल्प का उत्तम उदाहरण है। स्थूल और ऊंचे पाषाण-स्तम्भों पर सभा-भवन की छत है। स्तम्भों, उनकी चौकियों और टोंडियों पर खुदाव का काम है। तीनों ओर की भित्तियाँ और छत सुन्दर रंगों से रंगी हुई हैं जिनके किनारों की बेलों में रत्न प्रचुरता से जड़े हैं। भित्तियों के मध्य में बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी अनेक चित्र बने हैं। सामने की ओर सुवर्ण के रत्न-जटित सिंहासन पर सम्राट् अशोक विराजमान हैं। वे प्रौढ़ावस्था के गौर वर्ण, ऊंचे-पूरे बलिष्ठ व्यक्ति हैं। पीले कौशेय वस्त्र का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं। मुकुट, कुंडल, हार, केयूर, वलय आदि सभी रत्न-जटित आभूषणों से उनके अंग देदीप्यमान हो रहे हैं। छत्रवाहिका उनके मस्तक पर श्वेत छत्र लगाये है, जिसमें मुक्ताओं की झालर लगी है। दो चामर-वाहिकाएँ, सुवर्ण की रत्न-जटित डाँडियोंवाले सुरागाय की पुच्छ के श्वेत चामर तथा दो व्यजन-वाहिकाएँ सोने की रत्न-जटित डाँडियों में लगे खस के पंखे डुला रही हैं। वाहिकाएँ गौरवपूर्ण सुन्दर प्रौढ़ा स्त्रियाँ हैं। वे चमकदार रंगों के कौशेय वस्त्र पहने तथा सुवर्ण के रत्न-जटित आभूषण धारण किये हैं। सिंहासन के सामने अर्द्धचन्द्राकार रूप में व्यवस्थित ढंग से सुवर्ण की रत्न-जटित आसंदियों (प्राचीन काल की एक प्रकार की कुर्सियाँ)

की अनेक पंक्तियाँ रखी हैं, जिन पर सिंहासन की ओर मुख किये महामात्य (प्रधान मंत्री) महाबलाधिकृत (प्रधान सेनापति), क्षत्रप-नरेश (माण्डलिक राजा), कुलपुत्र (सम्राट् के नातेदार), सामंतगण (राजकर्मचारी), संघस्थविर (भिक्षु-समुदायों के प्रधान) और भिक्षु-भिक्षुणी बैठे हैं। संघ-स्थविर और भिक्षु-भिक्षुणियों को छोड़ शेष सभी कौशेय वस्त्रों के उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं, तथा रत्नों के मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, वलय आदि भूषणों को पहने हैं। संघ-स्थविर और भिक्षु-भिक्षुणी अपने 'चीवर' (भिक्षुओं के विशेष प्रकार के वस्त्र) वस्त्रों में हैं। यत्र-तत्र अनेक प्रतिहारी खड़े हैं। मध्याह्न का समय है। सभा-भवन उत्सव के लिए पत्र-पुष्प की बन्दनवारों और कदली वृक्षों से सुशोभित है। धूप-दानियों से सुगंधित धूम उठ रहा है। नेपथ्य में पञ्च महावाद्य शंख, रम्मट, भेरी, शृंग और जयघंट बज रहे हैं, जिनकी धीमी ध्वनि आ रही है।]

अशोक—संघ-स्थविरो, भिक्खुणियो, भिक्खुगणो, क्षत्रप-नरेशो, कुल-पुत्रो और सामन्तो! मेरे सद्धम्म ग्रहण करने को आज बारह वर्षों का एक युग पूर्ण होता है। इस एक युग में सद्धम्म और संसार की जितनी सेवा हुई है उसी को स्मरण कर तथा भविष्य के लिए इसी सेवा का नया कार्यक्रम बना हमें यह उत्सव मनाना चाहिए। उत्सव मनाने की मैं इससे अच्छी और कोई विधि नहीं मानता। सद्धम्म को ग्रहण करने के पश्चात् इस युग में मुझे जो आंतरिक

आनन्द प्राप्त हुआ है और सद्धम्म ग्रहण करने के तीन ही वर्ष पश्चात से मैंने जिस निर्वाण-सुख को भोगा है वह इसके पूर्व के जीवन में कभी न मिला था। कहाँ पहले का अहंमन्यतापूर्ण मार-काटमय जीवन, मेरे द्वारा मेरे प्रिय भ्राताओं तक का नीच लोमहर्षण वध, कलिंग के युद्ध का भीषण हत्याकाण्ड और कहाँ यह सेवामय अपूर्व शांत जीवन ! बंधुगणो, मैं तो देखता हूँ कि इन बारह वर्षों में मैंने धम्म और प्रजा की सेवा कर जिस प्रकार संसार को विजय किया है वह युद्ध-द्वारा अनेक जन्मों में भी सम्भव न था।

[सभा-भवन में 'धन्य है', 'धन्य है', 'भगवान् अर्हत की जय', 'भगवान बुद्ध की जय', 'भगवान तथागत की जय', 'परम-भट्टारक, परमेश्वर, राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्द्धन की जय' आदि शब्द होते हैं और उनकी प्रतिध्वनि होती है।]

अशोक—बंधुओ ! इन बारह वर्षों में सद्धम्म की सेवा का जो सबसे प्रधान कार्य हुआ है वह परम पूज्यपाद गुरुदेव योग्गालिपुत्ततिस्य संघ-स्थविर की अध्यक्षता में सद्धम्म के अठारहों निकायों का सम्मेलन है, जिसने धम्म-संबंधी समस्त मतभेदों का निराकरण कर धम्म की तृतीय संगति का निर्माण किया है। अब तक के सद्धम्म के प्रचार के लिए यह सबसे बड़ा सहायक सिद्ध हो रहा है। इस एकीकरण से सद्धम्म के प्रचार को केवल भारतवर्ष में ही सहायता नहीं पहुँच रही है, किन्तु इससे दूर देश-देशान्तरों में सद्धम्म का प्रचार हो रहा है।

[पुनः 'धन्य है' 'धन्य है' इत्यादि शब्द होते हैं।]

अशोक—(महामात्य से) महामात्य, अब मैं आपसे सद्धम्म

आदि के विषय में कुछ प्रश्न पूछता हूँ, जिससे हमारे संघ-स्थविरों तथा क्षत्रप-नरेशों आदि को, जो आज दूर-दूर से इस उत्सव में सम्मिलित होने को पधारे हैं, सद्धर्म्म के प्रचार आदि के सम्बन्ध में सारा वृत्त ज्ञात हो जावे।

महामात्य—(खड़े होकर हाथ जोड़े हुए) जो आज्ञा, परम-भट्टारक।

अशोक—देश के प्रधान-प्रधान स्थानों में चौरासी सहस्र योनियों के द्योतक चौरासी सहस्र स्तूपों के निर्माण की मैंने जो आज्ञा दी थी उनमें से कितनों का निर्माण हो चुका ?

महामात्य—आधों से कुछ अधिक का, महाराज।

अशोक—और अनेक स्थानों पर जिन स्तम्भों के बनाने की आज्ञा दी थी उनमें से कितने स्तम्भों का निर्माण होना शेष है ?

महामात्य—जितने स्तम्भों के निर्माण की आज्ञा हुई थी वे सभी बन चुके, परम-भट्टारक !

अशोक—वे इस प्रकार के द्रव्य से बने हैं न कि वर्षा आदि के प्रभाव से दीर्घकाल तक नष्ट होने से बच सकें ?

महामात्य—वैज्ञानिकों ने उनमें इसी प्रकार के द्रव्य का उपयोग किया है, महाराज, कि जब तक यह पृथ्वी विद्यमान रहेगी तब तक वे स्तम्भ भी रक्षित रहेंगे।

अशोक—सभी स्तम्भों का शिल्प भी एक-सा होगा ?

महामात्य—आज्ञानुसार सभी एक प्रकार के शिल्प के ही हैं। नीचे पृथ्वी का द्योतक कमल है और ऊपर चार सत्यों के द्योतक चार

सिंह। बीच में संसार-चक्र से निकलते हुए भगवान् वृषभ के रूप में अंकित हैं।

अशोक—ठीक, और सभी स्तूपों एवं स्तम्भों पर भगवान् के उपदेश तथा मेरे नम्र निवेदन उसी प्रकार स्पष्ट रूप से लिखे गये हैं न जिस प्रकार आरम्भ में बनाये गये स्तूपों और स्तम्भों पर मैंने अपने सम्मुख लिखवाये थे ?

महामात्य—हाँ, परम-भट्टारक, उसी प्रकार।

अशोक—बौद्ध भिक्खुओं और भिक्खुणियों के लिये चौरासी सहस्र चैत्यों से मण्डित चौरासी सहस्र विहार बनने की आज्ञा थी उनका भी निर्माण हो चुका ?

महामात्य—हाँ, महाराज, किन्तु भिक्खुओं और भिक्खुणियों की बढ़ती हुई संख्या के कारण इन चौरासी सहस्र विहारों में भी नित्य ही परिवर्द्धन का कार्य चला करता है।

अशोक—**(कुछ ठहर कर)** इन बारह वर्षों में, राज्य में सद्धर्म्म के प्रचार एवं प्रजा की सेवा के और क्या-क्या कार्य हुए, उनका भी आप संक्षेप से वर्णन कर दें, जिससे सबको उनकी भी सूचना हो जावे।

महामात्य—जो आज्ञा। **(सभासदों की ओर लक्ष्यकर)** महानुभावो ! राज्य में हर प्रकार की हिंसा का सर्वदा निषेध कर दिया गया है।

['धन्य है', 'धन्य है' इत्यादि शब्द होते हैं।]

महामात्य—स्तूपों और स्तम्भों के शिलालेखों के अतिरिक्त

सद्धम्म के प्रचारार्थ इस देश तथा यवनक, वाह्लीक, मिश्र, ताम्रवर्णी, सुवर्णभूमि आदि अनेक विदेशों में उपदेशकों का लगातार भ्रमण हो रहा है।

[फिर 'धन्य है', 'धन्य है' इत्यादि शब्द होते हैं।]

महामात्य—प्रजा में शिक्षा की प्रगति के लिए पवित्र नालंदा के विश्व-विद्यालय की बहुत वृद्धि की गयी है। स्थान-स्थान पर भी विद्यालयों का निर्माण हुआ है। स्त्री-शिक्षा की नवीन व्यवस्था हुई है।

[फिर 'धन्य है', 'धन्य है' इत्यादि शब्द होते हैं।]

महामात्य—रोगियों की चिकित्सा के लिए अनेक नवीन चिकित्सालयों का उद्घाटन हुआ है, वैज्ञानिक लोग चिकित्सा के नवीन उपायों की खोज कर रहे हैं और जड़ी-बूटियों के बड़े-बड़े उद्यान लगाये गये हैं।

[पुनः 'धन्य है', 'धन्य है' इत्यादि शब्द होते हैं।]

महामात्य—प्रजा के सुख के लिए अनेक उद्यान, सरोवर, कूप आदि का निर्माण कराया गया है, यात्रा के मार्ग सुगम बना दिये गए हैं और मार्गों में स्थान-स्थान पर विश्रामगृहों का निर्माण हुआ है।

[पुनः 'धन्य है', 'धन्य है' इत्यादि शब्द होते हैं।]

महामात्य—संक्षेप में, (अशोक की ओर लक्ष्य कर) परम-भट्टारक, आपके अत्यन्त सरल जीवन ग्रहण कर लेने तथा युद्धों के न होने से केवल रक्षा के लिए सेना रखने और उसका व्यय अत्यन्त घट जाने के कारण प्रजा से जो धन कर के स्वरूप में मिलता है

वह सभी अब सद्धम्म के प्रचार और प्रजा की सेवा में ही व्यय हो रहा है।

[महामात्य बैठ जाता है। 'भगवान् अर्हत की जय', 'भगवान् बुद्ध की जय', 'भगवान् तथागत की जय', 'परम-भट्टारक परमेश्वर राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्द्धन की जय' शब्द होते हैं।]

महाप्रतिहार—(बाहर से सभा-भवन में आकर) जय हो परम-भट्टारक। यवनक, बाल्हीक, मिश्र, ताम्रपर्णी, सुवर्णभूमि आदि अनेक विदेशों के दूत अनेक प्रकार के उपहार लेकर इस उत्सव में सम्मिलित होने को पधारे हैं। उनको संग लिए गुरुदेव सभा-भवन में पधार रहे हैं।

[सम्राट् के संग समस्त सभासद् उठकर खड़े हो जाते हैं। मोग्गलिपुत्त के संग यूनान, मिश्र, बलख, लंका और बर्मा के दूत अपने-अपने देश की वेश-भूषा में आते हैं। यूनान का दूत गौरवर्ण है। वह ऊपर के अंग में एक चुस्त सिला हुआ वस्त्र पहने है जो गले से जांघों तक लंबा है, किन्तु इसमें बाँहें न होने से दोनों भुजाएँ खुली हैं। कमर से पैरों तक वह धोती के सदृश बिना सिला वस्त्र धारण किये है। इन दो वस्त्रों के अतिरिक्त उत्तरीय के समान वह एक वस्त्र और लिये है जो बायें कंधे से नीचे झूल रहा है, तथा दाहिनी भुजा के नीचे से शरीर पर लपेटा हुआ है। तीनों वस्त्रों का रंग क्रमशः पीला, नीला और लाल है। वस्त्र ऊनी हैं। सिर पर उसके सुनहरा

मुकुट, गले में अनेक आभूषण तथा अँगुलियों में अँगूठियाँ हैं। मिश्र देश का दूत साँवले रंग का है। उसके शरीर पर पीले रंग का सिला हुआ वस्त्र है, जो घुटने तक लंबा है। बायाँ कंधा और बायीं भुजा ढकी है परन्तु दाहना कंधा और दाहनी भुजा खुली है। कमर से पैर तक वह श्वेत रंग की धोती के समान वस्त्र धारण किये है और सिर पर छोटा-सा साफा बाँधे है। वह भी गले में अनेक आभूषण और अँगुलियों में अँगूठियाँ पहने है। उसके वस्त्र पतले सूत के हैं। बलख का दूत गेहुँएँ रंग का है। वह ऊपर के अंग में गले से घुटने तक लंबा, बाहोंवाला ढीला चोग़ा तथा कमर से पैर तक ढीला पाजामा पहने है। उसके वस्त्र रेशम के हैं और क्रमशः केशरी तथा हरे रंग के हैं। सिर पर वह लाल रंग की गोल टोपी लगाये है, जिसमें कलंगी है। वह गले में अनेक आभूषण और अँगुलियों में अँगूठियाँ धारण किये है। लंका और बर्मा के दूतों की वेश-भूषा भारतीयों के सदृश है। मोग्गलिपुत्त का भिक्षुओं के समान वेश है। वे प्रौढ़ावस्था के मनुष्य हैं। इन दूतों के साथ अनेक दास हैं जिनकी वेश-भूषा भी इन्हीं के समान है। ये दास भिन्न-भिन्न प्रकार के उपहारों के थाल लिये हुए हैं। अशोक आगे बढ़ मोग्गलिपुत्त को प्रणाम करते हैं। शेष सभासद भी प्रणाम करते हैं। मोग्गलिपुत्त आशीर्वाद देते हैं। मोग्गलिपुत्त विदेशों के दूतों का सम्राट् से परिचय कराते हैं। वे सम्राट् का अभिवादन करते हैं। सम्राट् अभिवादन का उत्तर दे उनका स्वागत करते

हैं। मोग्गलिपुत्त के संग सम्राट् सिंहासन पर बैठते हैं और विदेशी दूत महामात्य के निकट की आसंदियों के ऊपर। उपहार लानेवाले दास उपहार सहित सभा-भवन में एक ओर खड़े हो जाते हैं।]

मोग्गलिपुत्त—(अशोक से) वत्स, तुम्हारे आज के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए संसार के भिन्न-भिन्न देशों के ये दूत आज कई दिनों से पाटलिपुत्र में आ रहे थे। ये विहार में ही ठहरे रहे और इनकी इच्छा थी कि वे आज तुम्हारे सम्मुख उपस्थित किये जायँ, अतः इनकी इच्छानुसार मैं आज ही इन्हें तुम्हारे समीप लाया हूँ। तुम्हारे सम्मानार्थ उपहारों-सहित भिन्न-भिन्न देशों से ये दूत वहाँ की धम्म-संस्थाओं और राजसत्ता द्वारा भेजे गये हैं। सद्धम्म को ग्रहण कर, अशोक, केवल तुम ही सच्चे 'अशोक' नहीं हुए हो किन्तु तुमने समस्त संसार को 'अशोक' करना आरम्भ कर दिया है। सारे संसार में सद्धम्म विद्युत्वत फैल रहा है और सभी उसे ग्रहण कर शोक से निवृत्त हो रहे हैं। इस प्रकार तुमने समस्त संसार पर अद्वितीय विजय प्राप्त की है। आज तुम्हें समस्त संसार श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखता है। तुम अन्य देशों की आधिभौतिक संपत्ति के सम्राट् नहीं, किन्तु उन देशों के निवासियों के हृदय-सम्राट् हो, जो अस्थायी आधिभौतिक सम्पत्ति के अस्थायी स्वामित्व की अपेक्षा कहीं महान् और स्थायी स्वामित्व है। संसार में किस राजा ने आज पर्यन्त इस प्रकार की विजय प्राप्त की है और किसने इस प्रकार का सम्मान पाया है?

अशोक—(सिर झुकाकर) यह सब भगवान् बुद्ध और आपकी कृपा है, गुरुदेव ।

['भगवान् अर्हत की जय', 'भगवान् बुद्ध की जय', 'भगवान् तथागत की जय', 'संघ-स्थविर गुरुदेव मोग्गलिपुत्त की जय', 'परम-भट्टारक परमेश्वर राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्द्धन की जय' शब्द होते हैं ।]

आकाश—सम्राट् अशोक के पश्चात् अनेक भारतीय सम्राटों और राजाओं ने आधिभौतिक सुखों को भोगते हुए भी बौद्ध-मत का प्रचार एवं प्रजा सुखी करने के जो कार्य किये, वे अब तुम्हें स्मरण आ गये होंगे । इनके जीवनवृत्तों से यह सिद्ध हो जाता है कि आधिभौतिक सुखों को भोगते हुए भी मनुष्य अपने कर्मों को अपने सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के अनुरूप बना सकता है । इन सम्राटों और राजाओं के इन महान् प्रयत्नों के अनेक चिन्ह आज भी संसार के कोने-कोने में विद्यमान हैं । तुम्हारे पर्वत और समुद्र तक इन चिन्हों से विभूषित हैं । क्या इन्हें दिखाकर इनका भी तुम्हें स्मरण दिलाना होगा ? तुम्हारी अगणित वस्तुओं में कदाचित् तुम इन्हें भी भूल गयी हो । प्रिये, यह देखो, ये तुम्हारे भारत देश की प्रसिद्ध अजन्ता की गुहाएँ हैं—

[सामने दूर पर अजन्ता की गुफ़ाओं का दृश्य दिखायी देता है । धीरे-धीरे गुफ़ाएँ निकट से दिखने लगती हैं । पहले उनका बाहरी भाग दिखता है, फिर उनके भीतरी भाग और चित्र आदि दिखायी देते हैं ।]

आकाश—अब समुद्र में धारापुरी की गुहाओं को देखो—

[सामने समुद्र में दूर पर एलीफेण्टा की गुफ़ाओं का दृश्य दिखता है। शनैः शनैः ये गुफ़ाएँ भी निकट से दिखने लगती हैं। पहले उनका बाहरी भाग दिखता है और फिर भीतरी भागों के दृश्य दिखायी देते हैं।]

आकाश—स्तूप और स्तंभ तथा उनके शिला-लेखन का भी अवलोकन करो।

[सामने, दूर पर पहले साँची के स्तूप का लेख दिखता है। धीरे-धीरे वह निकट से दिखने लगता है। इसके पश्चात् स्तूप दिखता है। शनैः शनैः दृश्य परिवर्तित हो दूर पर सारनाथ का अशोक स्तम्भ दिखायी देता है। कुछ देर पश्चात् वह निकट से दिखने लगता है और फिर उसका शिलालेख भी।]

आकाश —तक्षशिला का जो विश्वविद्यालय समस्त संसार में प्रसिद्ध था और जिसमें देश-देशांतर के विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिये आते थे, उसके विशाल भवन तुम्हारे अंतर्गत हो गये थे। उन्हें मनुष्यों ने खोज कर फिर से बाहर निकाला है उनका भी निरीक्षण कर लो।

[सामने दूर पर तक्षशिला का दृश्य दृष्टिगोचर होता है, फिर शनैः शनैः वह निकट से दिखने लगता है। उसके अनेक भवनों आदि के बाहरी तथा भीतरी दृश्य दिखायी देते हैं।]

आकाश—(पृथ्वी के निकट जा उसका आलिंगन करते हुए) क्यों, ऊर्वी, अभी भी तुम क्या यही कहोगी कि मनुष्य ने एकता का

ज्ञान प्राप्त कर उसका अनुभव और उसके अनुसार कार्य करने का प्रयत्न नहीं किया ?

पृथ्वी—(आकाश का दृढ़ आलिंगन करते और मुसकराते हुए) अवश्य, प्राणेश ।

आकाश—(कुछ आश्चर्य से) यह कैसे ?

पृथ्वी—एक प्रश्न का उत्तर दोगे ?

आकाश—अवश्य, पूछो ।

पृथ्वी—आज संसार में कितने बौद्ध-मतावलम्बी हैं ?

आकाश—उनकी संख्या पैंतालीस करोड़ से कम नहीं है ।

पृथ्वी—परन्तु उनमें सच्चे बौद्ध कितने हैं ? जिस आचार-प्रधान धर्म का बुद्धदेव ने उपदेश किया था उसका कितने बौद्ध पालन करते हैं ? पालन करना तो दूर रहा, उनके आज के प्रचलित बौद्धमत में आचार का अत्यन्त गौण स्थान रह गया है और व्यर्थ के ढकोसलों ने प्रधान स्थान ले लिया है । सृष्टि की एकता के ज्ञानानुसार कर्म न करने के कारण जब मनुष्य और उसके संग सृष्टि का पतन हो रहा था उस समय बौद्ध-धर्म ने उसे रोकने का प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु पूर्ण पतन के पूर्व पतन को रोकने के इस प्रयत्न को मैं उसी प्रकार का अवरोध मानती हूँ जिस प्रकार सृष्टि के उत्थान को रोकने के अनेक अवरोध हुए थे ।

आकाश—किस प्रकार, प्रिये ?

पृथ्वी—क्या तुम भूल गये कि जब सर्वप्रथम मेरी सृष्टि में चेतन जीव-सृष्टि का मत्स्य-रूप से प्रादुर्भाव हुआ, उस समय उस

मत्स्य को नष्ट करने के लिए राक्षस भी उत्पन्न हुआ था। इसी प्रकार सारे उत्थान-काल में उत्थान को रोकने के प्रयत्न हुए, परन्तु मनुष्य की उत्पत्ति और उसके ज्ञान की प्राप्ति तक वह उत्थान न रुका। यही बात पतन के संबंध में हो रही है; और चूँकि सृष्टि चक्र-वत् घूम रही है, उसकी सभी वस्तुएँ उसी प्रकार चक्रवत् घूमती हैं, अतः बौद्धमत की उत्पत्ति के पश्चात् उसकी भी कुछ काल तक उन्नति हुई। जिस बौद्धधर्म की उन्नति के तुमने मुझे इतने दृश्य दिखाये हैं, उसकी पतितावस्था को अब मैं तुम्हें दिखाती हूँ, जिससे तुम्हें भी विस्मृत दशा का स्मरण हो आये। तुम मुझसे कहते हो कि मैं उत्थान की सब बातें भूल गयी हूँ; मैं चाहे उन्हें न भूली होऊँ, किन्तु तुम पतन-संबंधी सारी घटनायें भूल गये हो, ऐसा अवश्य जान पड़ता है। संसार को तारने के लिए जिन आधिभौतिक सुखों को सिद्धार्थ ने छोड़ा था, उन्हीं आधिभौतिक सुखों के पीछे उनके अनुयायी और साधारण अनुयायी नहीं, संघ-स्थविर तक कैसे पड़े, तथा किस प्रकार दुराचारी हो गये, यह तुम भी देख लो। तुमने मुझे उत्थान के अनेक दृश्य दिखाये हैं, किन्तु मैं तुम्हें पतन-सम्बन्धी बौद्ध—संघाराम का केवल एक ही दृश्य दिखलाऊँगी। (**आकाश के निकट से हट सामने की ओर संकेत कर**) आशा है, इसी एक दृश्य का अवलोकन कर तुम्हें सारे पतन का स्मरण हो आयेगा।

[सामने संघाराम का एक विशाल कक्ष दिखायी देता है। कक्ष के सामने मन्दिर है, जिसमें एक ऊँची पत्थर की चौकी पर बुद्धदेव की विशाल पाषाण-मूर्ति स्थापित है। कक्ष के बीच में

अनेक भिक्षु-भिक्षुणी गोल-चक्राधार रूप में बैठे हैं। उनके बीच में देवी की एक नग्न प्रतिमा के सम्मुख, एक पुस्तक, पूजन की सामग्री और मदिरा से भरे हुए अनेक घट रखे हैं। सब लोग प्रतिमा का पूजन कर रहे हैं।]

संघ-स्थविर—(पूजन समाप्त होने के पश्चात्) आज हमारे गुह्य-समाज के वार्षिक पूजन का दिवस है। भैरवी-चक्र में बैठकर पूजन का कार्य समाप्त हो चुका, किन्तु महाप्रसाद पाने के पूर्व हमारी निश्चित प्रणाली के अनुसार सद्धम्म की थोड़ी-बहुत चर्चा हो जानी चाहिए।

सब—(एक साथ) अवश्य, अवश्य।

संघस्थविर—भगवान् बुद्ध को इस संसार से परिनिर्वृत्त हुए सैकड़ों वर्ष हो चुके हैं, इन वर्षों में भगवान् के बताये हुए सद्धम्म का भलीभाँति मंथन हो चुका है और हर्ष का विषय है कि अनेक मत-भेदों के उपरान्त अब हमारे गुह्य-समाज द्वारा भगवान् के उपदेशों का सच्चा ज्ञान धम्म के अठारहों निकायों को हो चला है।

एक भिक्षु—यही कारण तो हमारे गुह्य-समाज की दिन-दूनी और रात-चौगुनी वृद्धि का है।

सब—(एक साथ) अवश्य, अवश्य।

संघस्थविर—भगवान् बुद्ध को सर्वप्रथम पाँच दुखों का अनुभव हुआ था अर्थात् जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग। सत्य है न भिक्खुगणों ?

सब—(एक साथ) सत्य है, सत्य है।

संघस्थविर—इन दुखों की निवृत्ति का मार्ग खोजने के लिए भगवान् ने षट् वर्ष तक घोर तप किया, परन्तु उन्हें ज्ञान हो गया है कि तप से दुखों की निवृत्ति नहीं हो सकती। **(सामने रखी हुई पुस्तक को उठाकर खोलते हुए)** यह भगवान् का स्वयं कहा हुआ वाक्य है। भगवान् कहते हैं **(पुस्तक से पढ़ते हुए)** 'यह दुष्कर तप बुद्धत्व की प्राप्ति का मार्ग नहीं है।' **(पुस्तक को बन्द करते हुए)** इसके पश्चात् यह देख कि जरा के समय जरा उपस्थित होगी ही, मरण के पूर्व व्याधि आवेगी ही, मरना एक दिन होगा ही और अप्रिय के संयोग एवं प्रिय के वियोग से दुख होना स्वाभाविक ही है, भगवान् ने ज्ञान द्वारा सृष्टि को एक दृष्टि से देख समस्त विलासों को पुन: भोग, विहार करना आरम्भ किया और इस प्रकार निर्वाण पद की प्राप्ति की। **(पुनः पुस्तक को खोलते हुए)** निर्वाण को प्राप्त कर भगवान् ने कहा है। **(पुस्तक से पढ़ते हुए)** 'चार सत्य हैं, पहला सत्य है पाँच प्रकार के दुख, अर्थात् जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय का संयोग और प्रिय का वियोग, दूसरा सत्य है, इन दुखों की निवृत्ति के लिए स्वर्ग की तृष्णा, तीसरा सत्य है इस तृष्णा का निवारण और चौथा सत्य है इस निवारण के लिए इसी संसार में अष्टांगिक मार्ग पर चलना'। **(पुस्तक को पुनः बन्द करते हुए)** भगवान् ने कहीं ईश्वर और आत्मा का नाम तक नहीं लिया है, अत: न कहीं ईश्वर है, न कहीं आत्मा है, जो कुछ है वह यही लोक है। इस लोक में मनुष्य-योनि प्रधान है, अतएव स्त्रियाँ ही मुक्तिदात्री 'प्रज्ञा' हैं और पुरुष ही मुक्ति का 'उपाय' है। हाँ, अमुक स्त्री अमुक

की पत्नी है और अमुक पुरुष अमुक का पति, यह भेद-भाव अज्ञान को उत्पन्न करता है। भगवान् कहते हैं **(पुनः पुस्तक खोलकर पढ़ते हुए)** 'जिस प्रकार समस्त समुद्र में एक ही स्वाद है उसी प्रकार समस्त सृष्टि में एकता विद्यमान है।' **(पुस्तक को यथास्थान रखते हुए)** इस एकता का पूर्ण ज्ञान मदिरा से होता है अतः वही अमृत है। बस, इसका सेवन करते हुए समस्त सृष्टि में एकता का निरीक्षण कर मनुष्य को विहार करना चाहिए और विहार की अवस्था में उसे अपने मार्ग के आठों अंग दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति और तल्लीनता पर पूर्व दृष्टि रखनी चाहिए।

सब—(एक साथ) धन्य है, धन्य है। भगवान् अर्हत की जय! भगवान् बुद्ध की जय! भगवान् तथागत की जय! पूज्यपाद संघस्थविर की जय!

संघस्थविर—किन्तु, भिक्खुगणों! इस प्रकार के सद्धम्म-प्रचार में अनेक कठिनाइयाँ थीं, क्योंकि सहस्रों वर्षों से मनुष्य-समाज अस्वाभाविक और क्रूर नैतिक बंधनों में बँध चुका था। उन बंधनों को पालकर जीवन में अनेक दुख भोगने से मरण के पश्चात् स्वर्ग में सुख प्राप्त होगा इसका उसे विश्वास हो चुका था। अतः प्रपंचियों ने भगवान् के सत्य उपदेश को तो छिपा दिया और अपनी संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से वैदिक-धर्म में कही हुई बातों में से कुछ बातें निकाल उन्हीं पुराने नैतिक बंधनों का समाज में यह कहकर पुनः प्रचार किया कि इन बातों को भगवान् बुद्ध ने कहा है।

एक भिक्षु—धिक्कार है ऐसे प्रपंचियों को!

सब—(**एक साथ**) धिक्कार है, धिक्कार है !

संघस्थविर— परन्तु, भिक्खुगणों ! सत्य असंख्य प्रयत्न करने पर भी सदा के लिए नहीं छिपाया जा सकता; अंत में हमारे गुह्य-समाज ने (**पुस्तक को उठाकर**) भगवान् के इन सच्चे उपदेशों की खोज कर ही ली और सारे अस्वाभाविक एवं क्रूर नैतिक बंधनों को काट, सब में एकता का निरीक्षण करते हुए इसी जीवन में सब प्रकार के सुखों को भोगने की समाज को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर उसे निर्वाण का सच्चा मार्ग बता दिया ?

सब—(**एक साथ**) धन्य है, धन्य है !

संघस्थविर—(**मदिरा के एक घट को उठाकर**) लो, भिक्खुगणों ! इस महाप्रसाद 'अमृत' को पान कर मुक्ति के 'उपाय' पुरुष और मुक्तिदात्री 'प्रज्ञा' स्त्रियां सारा भेद-भाव भूल विहार करो। विहार के सच्चे अर्थ को हमारे समाज ने ढूँढ निकाला है।

[भिक्षु-भिक्षुणी मदिरा पान करते हैं। उसके पश्चात् संघ-स्थविर एक-एक कर सब भिक्षुणियों का आलिंगन करता है। तदुपरांत भिक्षु-भिक्षुणी एक-दूसरे का आलिंगन कर नृत्य करते और गाते हैं। बीच-बीच में मदिरा-पान भी होता है।]

गान

त्रिविध ताप नाशक मधुशाला।
मृत में जीवन ज्योति जगा दे स्वर्ग सुन्दरी यह हाला।
नर-नारी के भेद-भाव ने मानस को मरुरूप दिया,

बंध-विहीन स्नेह-सागर में शीतल कर लो आज हिया ;
अपगत हो जीवन की ज्वाला ।
—त्रिविध०

मानव के क्षण-भंगु जगत् में उमड़ उठे सुख की धारा,
हास्य तरंगों में विलीन हो धर्म-नीति, आडंबर सारा,
रह जावें बस हाला-प्याला ।
—त्रिविध०

पृथ्वी—स्मरण आया, प्रियतम, कि किस प्रकार बौद्ध-धर्म का पतन हुआ था ? यह दशा एक संघाराम की ही नहीं थी, किन्तु अधिकांश संघारामों की यही अवस्था थी । जब मैं अपनी सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ मानव-समाज के इस पतन का स्मरण करती हूँ तब लज्जा से मेरा मस्तक नत हो जाता है । कहो, हृदयेश, क्या अभी भी तुम यही कहोगे कि सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर अग्रसर है ?

आकाश—(**पृथ्वी को आलिंगन कर, मुसकराते हुए**) अवश्य, रत्नगर्भा !

पृथ्वी—यह कैसे ?

आकाश—देखो, प्राणेश्वरी, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों को पृथक्-पृथक् रूप से देखने पर उनका जन्म, विकास और क्षय दिख पड़ता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मतादिकों को यदि पृथक् रूप से देखा जाय तो उनकी भी उत्पत्ति, विकास और क्षय दीख पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि पृथक्-पृथक् पदार्थों की उत्पत्ति के पश्चात् उनका कार्य समाप्त हो जाने पर उनके उस स्वरूप का अंत होता

ही है। जब बौद्धमत सृष्टि को उन्नत करने का अपना कार्य कर चुका तब उसका पतन हो गया, परन्तु सामूहिक रूप से तो सृष्टि उन्नति की ओर ही जा रही है, और इस पतन से सृष्टि की सामूहिक उन्नति न रुक जाय इसलिए इस पतन के बहुत पहले तुम्हारे ही संसार इस्ताइलों के यहूदी देश में महात्मा ईसामसीह ने जन्म ले लिया था। उनके मत का प्रसार भी होने लगा था। महात्मा ईसा ने संसार के उपकार के लिए जिस प्रकार अपने प्राणों तक की आहुति दे दी वह भी तुम भूल गयी दिखती हो। जान पड़ता है, ईसा के समय का स्मरण दिलाने के लिए मुझे तुम्हें उनके समय के कुछ दृश्य दिखाने होंगे।

[एकाएक अँधेरा हो जाता है। थोड़ी ही देर में फिर प्रकाश फैलता है।]

स्थान—वही

समय—वही

[निकट ही आकाश और पृथ्वी पीछे की ओर मुख किये हुए खड़े हैं। उनके सामने का स्थान पहले के समान ही शून्य है।]

आकाश—महात्मा ईसा के नाम का स्मरण दिलाते ही तुम्हें याद आ गया होगा कि सिद्धार्थ के समान ईसा का जन्म किसी राज-वंश में न हुआ था; न उन्होंने सिद्धार्थ के सदृश महान ऐश्वर्यों को ही भोगा था। सिद्धार्थ को तो आधिभौतिक सुख भोगने के पश्चात् उनसे विरक्ति हुई थी, किन्तु उन सुखों के न भोगने पर, तथा चालीस दिनों तक लगातार उपवास के पश्चात् उन ऐश्वर्यों को सामने देखकर भी, ईसा उनके लिए लालायित न हुए। दृढ़-प्रतिज्ञ ईसा किस प्रकार अपने सिद्धांतों पर अटल रहे और जिस शैतान ने उन्हें भ्रष्ट करने को ललचाया उसे किस प्रकार असफलता मिली, वही दृश्य सबसे पहले मैं तुम्हें दिखाता हूं।

[सामने एक सघन वन दृष्टिगोचर होता है। सूर्य अस्ताचल को जा रहा है और वृक्षों के बीच-बीच में उसकी चमकती हुई किरणें दिखती हैं। वृक्षों के बीच में यत्र-तत्र अनेक पाषाण-खंड

पड़े हैं। उन्हीं में से एक पर ईसा बैठे हुए हैं। ये गौरवर्ण के सुन्दर युवक हैं। सिर के बाल कुछ लंबे हैं, किन्तु वे किसी विशिष्ट ढंग से सँवारे हुए नहीं हैं। छोटी दाढ़ी है। शरीर पर गले से पैर तक साधारण कपड़े का एक लंबा चोग़ा पहने हैं, जो यहाँ-वहाँ फट गया है। सिर और पैर नंगे हैं। उनके निकट ही एक अत्यंत सुन्दर युवक के रूप में शैतान खड़ा है, वह भी गले से पैर तक एक लम्बा चोग़ा पहने है। परन्तु उसके चोग़े का कपड़ा बहुमूल्य है। सिर पर वह मुकुट लगाये है तथा शरीर पर अनेक आभूषण धारण किये है।]

शैतान—ऐसा सुंदर शरीर पाकर एक मिथ्या कल्पना के पीछे उसे कष्ट देने से बढ़कर और कोई मूर्खता नहीं हो सकती। तू आज चालीस दिनों से भूखा है, किंतु जिसे तू अपना पिता कहता है उस ईश्वर ने अब तक तेरी कोई सहायता न की। इसका कारण जानता है?

ईसा—क्या?

शैतान—ईश्वर का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। तेरे सदृश मिथ्या कल्पना करने और कष्ट पानेवालों को मैं सदा सहायता करने का इच्छुक रहता हूँ, क्योंकि सृष्टि का समस्त कार्य ईश्वर की शक्ति से नहीं, किन्तु मेरी शक्ति से चल रहा है। जब कभी कोई भी तेरे समान भुलावे में पड़ता है तब या तो मैं प्रत्यक्ष स्वरूप धारण कर, अथवा उसके हृदय में प्रविष्ट हो उसकी भूल सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ। फिर मैं किसी को अपने कथन पर अंध-विश्वास करने को

नहीं कहता, किन्तु स्वयं ईश्वर के अस्तित्व की परीक्षा करने के लिए कहता हूँ। तुझसे भी मेरा यही कहना है—

ईसा—कि मैं ईश्वर के अस्तित्व की परीक्षा करूँ?

शैतान—अवश्य।

ईसा—किस प्रकार?

शैतान—उससे कह कि (**सामने पड़े हुए पत्थरों की ओर संकेत कर**) कि ये पाषाण-खण्ड रोटी बन जायँ। यदि कहीं ईश्वर होगा तो वह तेरे लिए इन पत्थरों की रोटियाँ बना देगा।

ईसा—परन्तु मैं तो यह मानता हूँ कि मनुष्य का जीवन वास्तव में रोटियों पर निर्भर ही नहीं है।

शैतान—फिर काहे पर निर्भर है?

ईसा—उन आदेशों को कृति में परिणत करने पर, जो उसे ईश्वर की ओर से मिलते हैं। रोटियाँ तो केवल उसके आधिभौतिक शरीर को पोषण करने के लिए साधनमात्र हैं। मिलीं तो मिलीं, न मिलीं तो न सही। शरीर रहा तो क्या और न रहा तो क्या?

शैतान—(**सिर हिलाते हुए**) हाँ, (**कुछ ठहर कर**) अच्छा ठहर जा, अब मैं तुझे एक मन्दिर के शिखर पर ले चलता हूँ। वहाँ तुझसे ईश्वर की परीक्षा करने को कहूँगा।

[सामने का दृश्य परिवर्तित हो यहूदी देश के नेज़रथ नगर का एक मार्ग दिखायी पड़ता है। मकान अधिकतर एक-एक खड के हैं। मार्ग पर पैदल तथा रथघोड़ों पर मनुष्य इधर-उधर आ-जा रहे हैं। एक विशाल मंदिर दिखता है। इस दृश्य

का अधिकांश भाग छिपकर मन्दिर निकट से दृष्टिगोचर होता है। मन्दिर पाषाण का बना है और विशाल स्तम्भों पर उसका शिखर है। अब मन्दिर का भी अधिकांश भाग छिपकर मन्दिर का शिखर दिखने लगता है। शिखर के निकट छत पर ईसा और शैतान खड़े हैं ?

शैतान—तो तुझे ईश्वर पर अटल विश्वास है ?

[**ईसा कोई उत्तर न दे उसके मुख की ओर देखता है।**]

शैतान—अच्छी बात है, तो ईश्वर के विश्वास पर तू इस शिखर से कूद पड़। यदि कहीं ईश्वर होगा तो तेरी रक्षा करेगा।

ईसा—तू वृथा कष्ट उठा रहा है। मैं तो उसकी परीक्षा करना ही नहीं चाहता।

शैतान— यह क्यों ?

ईसा—विद्वानों ने कहा है कि ईश्वर की परीक्षा मत कर।

शैतान—(**झुंझलाकर**) यदि तू अन्धकार में ही रहना चाहता है तो रह। (**कुछ ठहरकर**) नहीं, नहीं, ठहर जा। तू मूर्ख अवश्य है, पर तुझमें कुछ विशिष्ट गुण दीख पड़ते हैं, फिर तू कष्ट में हैं, अतः तेरे हठधर्म्म पर भी मैं तुझे सुखी करूँगा। चल, अब तुझे एक अन्य स्थान पर ले चलकर मैं केवल तेरी भूख ही नहीं बुझाऊँगा, परन्तु तुझे अतुल सम्पत्तिशाली भी बना दूँगा।

[**सामने का दृश्य परिवर्तित हो दूर पर एक ऊँचा पर्वत दृष्टिगोचर होता है। धीरे-धीरे पर्वत निकट से दिखने लगता है। उसके एक शिखर पर ईसा और शैतान खड़े हैं।**]

शैतान—देख, ईसा, तूने ईश्वरी-शक्ति को देखा नहीं है, तेरा उस पर अन्ध-विश्वास मात्र है। तू ईश्वर की परीक्षा भी नहीं करना चाहता, किन्तु तेरे कुछ विशिष्ट गुणों पर मुग्ध हो तेरे बिना कहे ही मैं अपनी परीक्षा तुझे देता हूँ। मेरी शक्ति, मेरे साम्राज्य और मेरे साम्राज्य की महान् सभ्यता एवं सम्पत्ति को देख। मेरे सम्मुख एक बार सिर झुका देने से तू मेरे समस्त साम्राज्य का उपभोग कर सकेगा। सर्वप्रथम मैं तुझे पूर्व दिशा का भारतीय साम्राज्य और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र का विपुल वैभव दिखाता हूँ।

[दूर अनेक शिखरों और महाद्वारों वाले कोट से घिरा हुआ पाटलिपुत्र नगर दिखता है। धीरे-धीरे वह निकट से दिखने लगता है और वहाँ का राजमार्ग दिखायी देता है। राजमार्ग के दोनों ओर बौद्धकालिक शिल्प के शिखरों एवं झरोखों से युक्त दो, तीन तथा चार खंड वाले विशाल भवन बने हैं। भवनों के नीचे के खंड में दुकानें हैं और इस प्रकार मार्ग के उभय ओर दुकानों की पंक्ति हो गयी है। दूकानों में विविध प्रकार की वस्तुएँ सजी हैं, जिससे वह स्थान प्रदर्शिनी के समान दृष्टि-गोचर होता है। दूकानों में क्रय-विक्रय करते एवं मार्ग पर पैदल तथा हाथी, घोड़ों और रथों पर चलते हुए पाटलिपुत्र के निवासी दिख पड़ते हैं। हाथियों के हौदों और रथों पर सोने, चाँदी के कामदार पत्तर जड़े हुए हैं, जिनसे वे चमक रहे हैं। हाथी तथा घोड़े भी सुवर्ण, चाँदी के अनेक आभूषणों से देदीप्यमान हैं। पथिकों

में अधिकतर गेहुँए वर्ण के लोग हैं। पुरुष प्रायः पतले, पीत कौशेय वस्त्र के उत्तरीय एवं अधोवस्त्र धारण किये हैं। स्त्रियाँ विविध वर्णों की बारीक साड़ियाँ पहने हैं तथा वक्षस्थल पर अनेक रंग के वस्त्र बाँधे हैं। दोनों वर्गों के वस्त्र सिले हुए नहीं हैं। उन पर सुनहरी काम है, जिससे वे चमचमा रहे हैं। दोनों ही गले, भुजाओं, हाथों और कानों में रत्नजटित आभूषणों को धारण किये हैं जिनसे उनके अंग-प्रत्यंग आलोकित हैं। पुरुषों में अधिकांश व्यक्तियों का सिर खुला है जिस पर उनके लम्बे बाल लहरा रहे हैं; किसी-किसीके सिर पर चमकता हुआ रत्नजटित मुकुट भी है। स्त्रियों के सिर साड़ियों से ढके हैं। अधिकतर मनुष्यों के पैरों में काष्ठ की पादुकाएँ हैं। कोई-कोई चर्म के जूते भी पहने हैं। निर्धन मनुष्य कम दिख पड़ते हैं। उनकी वेष-भूषा का भी यही ढंग है, किन्तु उनका कपड़ा सूती और मोटा है, तथा उनके शरीर पर एक तो आभूषण हैं ही नहीं, और किसी के शरीर पर यदि हैं तो चाँदी के। यह दृश्य परिवर्तित हो पाटिलपुत्र का नौखंड-वाला शिखरों और झरोखों से युक्त विशाल राज-प्रासाद दृष्टिगोचर होता है। पहले प्रासाद का बाहरी भाग और महाद्वार दिखता है। महाद्वार के दोनों ओर पाषाण के दो विशाल सिंह बने हैं तथा उसके सामने प्रहरी घूम रहे हैं। प्रहरी लोहे का कवच एवं शिरस्त्राण पहने हैं। बाँयें कंधे पर धनुष, पीठ पर तरकश तथा कमर में खड्ग बाँधे हैं और दाहिने हाथ में ऊँचा शल्य लिये हैं। फिर प्रासाद का

भीतरी कक्ष दिख पड़ता है। पाषाण के खुदावदार ऊँचे और स्थूल स्तम्भों पर कक्ष की छत है। छत तथा दीवालें सुन्दर रंगों से रँगी हैं और बौद्धधर्म-सम्बन्धी अनेक मनोहर चित्र बने हैं। फर्श पर रंग बिरंगी बिछावन है और उस पर सोने, चाँदी की रत्न-जटित देदीप्यमान अनेक वस्तुएँ सजी हैं। यह दृश्य भी परिवर्तित होता है और कुण्डों से युक्त हरा-भरा विस्तृत रजोद्यान दिखता है। होलिकोत्सव के कारण कुण्डों में केशरी और लाल रंग घुला है। भारत-सम्राट् अनेक युवक युवतियों के संग बसंती वस्त्र पहने होली खेल रहे हैं। सुवर्ण चाँदी की पिचकारियों में एक दूसरे पर रंग डाला जा रहा है और गुलाल अबीर उड़ रहा है। अनेक वाद्य बज रहे हैं और गायन भी हो रहा है —]

गान

मलय समीरण के कम्पन पर, मंद चरण रख, आली,
पंकज तन, गुलाब के कंकण, मुख पर कुमकुम लाली।
मदिर पवन चंचल अंचल में, भर पराग की झोली,
मधु माधव से हिल-मिल आयी लाल-लाल, सखि होली।
पल्लव के कोमल अंगों पर कुसुम सुरभि अलसाये।
गूँजे निभृत हृदय की वीथी कोयल कुहुक सुनाये।
अरविंदों के मधु मन्दिर में अलिदल लूट मचाये,
परिमल लोचन पट झर ढाँकें मन का धन छिप जाये।
कुमकुम पंक लिये हाथों में प्रिय अंतर में आये,

पुलक स्वेद से सारी भीगे मुख पर लाली छाये।
मन के रस से भर पिचकारी प्रिय छिड़के नयनों में,
आर्द्र कपोल हृदय हो जावें मधु बिखरे सुमनों में।
अवनी ने अम्बर से खेली होली रज उड़ छायी,
दिन मणि को केसर से रँग संध्या बाला मुसकायी।
उर परिमल अबीर में घुल मिल निज सौरभ फैलाये,
लाल गुलाल उड़े, सखि मेरी, प्रिय का मन रँग जाये।

[गायन समाप्त होने पर वह दृश्य शनैः शनैः लुप्त हो जाता है।]

शैतान—अब पूर्व दिशा का चीन देश और उसकी राजधानी लोयांग के महान् ऐश्वर्य का अवलोकन कर।

[सामने दूर चीन देश की राजधानी लोयांग दिखती है। धीरे-धीरे वह निकट से दिखने लगती है, और वहाँ का प्रधान मार्ग दिखता है। मार्ग के दोनों ओर एक और कोई-कोई दो खण्ड के भवन बने हैं। सभी भवन ऊपर से चपटे तथा एक से हैं। भवनों में काष्ठ का अधिक प्रयोग है। मार्ग पर पैदल तथा रथ और घोड़ों पर वहाँ के निवासियों का आवागमन दिखायी देता है। इन लोगों में अधिकांश के वर्ण में कुछ पीला-पन है। पुरुषों और स्त्रियों दोनों की वेश-भूषा बहुत मिलती-जुलती है। दोनों ही दो-दो वस्त्र धारण किये हैं, एक ऊपर अंग में जो गले से कमर तक लम्बा है और एक नीचे के अंग में जो कमर से पैर तक है। ऊपर का वस्त्र सिला हुआ है और नीचे

का बिना सिला हुआ। स्त्रियों के ऊपर के वस्त्र की बाहें इतनी लम्बी हैं कि उनके हाथ नहीं दिखते। दोनों के वस्त्र रेशमी हैं, और अधिकांश का रंग नीली झाँई लिये हुए लाल अथवा नीला है। सुनहरे काम के कारण ये वस्त्र जगमगा रहे हैं। पुरुष सिर पर विविध रंगों के छोटे-छोटे रेशमी वस्त्र बाँधे हैं; जिनके पीछे उनकी गुथी हुई लम्बी शिखाएँ लटक रही हैं। स्त्रियाँ नंगे सिर हैं और उनके बालों के बड़े बड़े जूड़े सामने की ओर बधे हैं। स्त्रियों के पैर बहुत ही छोटे हैं। छोटे पैरों के कारण वे लड़-खड़ाती हुई चलती हैं। पुरुष गले में अनेक रत्नजटित आभूषण पहने हैं तथा स्त्रियाँ गले, हाथों और कानों में भी। वस्त्रों और आभूषणों से स्त्री-पुरुष के अंग-प्रत्यंग चमक रहे हैं। अधिकांश व्यक्ति चर्म के जूते पहने हैं। इन जूतों पर भी सुनहरी काम है। निर्धनों की वेश-भूषा का भी यही ढङ्ग है, किन्तु उनके वस्त्र रेशमी होने पर भी खुरदरे और मोटे हैं, साथ ही उनके शरीर पर भूषण भी नहीं हैं। यह दृश्य परिवर्तित होकर वहाँ के तीन खण्ड वाले राज-भवन का बाहरी भाग दिखता है। उसके महा द्वार पर पाषाण की विशाल 'पायलौ' (Pailau) एक प्रकार की महराब है। यहाँ भी कवच एवं शिरस्त्राण पहने तथा धनुष, तरकश, खड्ग आदि बाँधे प्रहरी घूम रहे हैं। भवन के ऊपर एक के ऊपर दूसरी और दूसरी पर तीसरी, इस प्रकार तेहरी छत है। छत के सामने के भाग पर सुन्दर खुदाव का काम है। तदु-परांत भवन का भीतरी कक्ष दिखता है। इसके स्तम्भ यद्यपि

ऊँचे और स्थूल हैं तथापि काष्ठ के हैं। छत और दीवालों पर सुन्दर रंग है, जिस पर प्राकृतिक दृश्यों के अत्यन्त मनोहर चित्र बने हैं। चित्र एक विशेष प्रकार के रेशमी कपड़े पर बनाये गये हैं और वह कपड़ा दीवाल पर लगा है। फर्श पर मोटे रेशमी वस्त्र की बिछावन हैं, जिस पर सोने-चाँदी का रत्नों से जड़ा हुआ बहुत-सा सामान सजा है। यह दृश्य भी परिवर्तित होकर हरा-भरा विस्तृत राजोद्यान दृष्टिगोचर होता है। दीप-उत्सव के कारण उद्यान के वृक्षों पर कागज की अगणित लालटेनें टँगी हैं। उन लालटेनों पर भिन्न-भिन्न रंगों में विविध प्रकार के दृश्य रंगे हुए हैं और उनके भीतर बत्तियाँ जल रही हैं। उद्यान के बीच में एक विशाल चौंतरा है, जिस पर रंग-बिरंगी सुन्दर रेशमी चाँदनी तनी हुई है। चौंतरे के फर्श पर रंग-बिरंगी रेशमी बिछायत है। सामने की ओर सुवर्ण का रत्नजटित सिंहासन है। सिंहासन के दोनों ओर सुवर्ण की चौकियों की पंक्ति है। सिंहासन पर चीन-सम्राट् और चौकियों पर वहाँ के प्रतिष्ठित स्त्री पुरुष बैठे हैं। बीच के रिक्त स्थान पर नर्तकियों का नृत्य हो रहा है और वाद्य बज रहे हैं। उद्यान में चीन का साधारण जन-समुदाय खड़ा है। धीरे-धीरे यह दृश्य भी लुप्त हो जाता है।]

शैतान—चीन देश की एक अद्भुत वस्तु तुझे दिखाता हूँ; यह है वहाँ की महान् दीवाल, जो शत्रुओं से चीन की रक्षा करने के लिए लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व बनाई गई थी। तुझे सुनकर आश्चर्य होगा कि इसकी लम्बाई १२५० कोस है। इस दीवाल में बीस सहस्र

दुर्ग हैं, और दस सहस्र शिखर। दुर्गों में तीस लाख सैनिक निवास करते हैं। शिखरों पर नित्य प्रहरी खड़े रहते हैं। इस दीवाल को बनाने में सात लाख मनुष्यों ने एक साथ कार्य किया था।

[सामने चीन की विशाल दीवाल का एक भाग दिखता है, उसके अनेक शिखर दिखते हैं और फिर एक दुर्ग भी दिख पड़ता है। शनैः शनैः यह दृश्य भी लुप्त हो जाता है।]

शैतान—अब पूर्व दिशा के ही ईरान देश की प्राचीन राजधानी पारस्यपुर और उसकी वसुधा का निरीक्षण कर। यद्यपि इस समय ईरान देश के अधिकांश भाग पर पार्थिआ के लोगों का अधिकार हो गया है और पारस्यपुर की गिरती हुई अवस्था है तथापि अभी भी वहाँ की संपदा देखने योग्य है।

[सामने दूर पर पहाड़ियों की तराई में ईरान देश की पुरानी राजधानी पारस्यपुर दिखायी देती है। फिर वह निकट से दिखने लगती है, और वहाँ का मुख्य मार्ग दिखता है। मार्ग के दोनों ओर चौंतरों पर दो-दो, तीन-तीन खण्ड के पत्थर के सुंदर भवन बने हैं। कोई-कोई यत्र-तत्र खंडित भी हो गये हैं। मार्ग पर पैदल तथा रथों और घोड़ों पर वहाँ के निवासी दिखायी देते हैं, जो गौर वर्ण के हैं। पुरुष गले से पिंडलियों तक ढीले चोग़े और कमर से पैरों तक ढीले पाजामे पहने हैं। चोग़े में बाहें न होने के कारण दोनों भुजाएँ खुली हैं। सिर पर वे गोल ऊँची टोपियाँ लगाये हैं, जिन पर कलगियाँ हैं। पैरों में चमड़े के जूते हैं। स्त्रियाँ गले से कमर तक चुस्त सिला हुआ

'सदरी' के सदृश वस्त्र पहने हैं, और कमर से पैर तक ढीला पाजामा। उनकी भुजायें भी खुली हैं। सिर को वे एक पतले कपड़े से ढाँके हैं, जो गले में लिपट कर पीछे की ओर पीठ पर पड़ा हुआ है। पैरों में वे भी चमड़े के जूते पहने हैं। दोनों ही वर्गों के वस्त्र भिन्न-भिन्न वर्णों के रेशमी हैं और उन पर सुनहरी काम है। पुरुष गले में और स्त्रियाँ गले, हाथों और कानों में रत्नजटित आभूषण पहने हैं। वस्त्रों और भूषणों से स्त्री-पुरुषों के शरीर चमचमा रहे हैं। निर्धनों की वेश-भूषा भी इसी प्रकार की है, परन्तु उनके वस्त्र सूती तथा मोटे हैं। वे आभूषण भी नहीं पहने हैं। यह दृश्य परिवर्तित होकर ज़ेरैक्सीज़ (Xerses) के बनवाये हुए प्रसिद्ध राजमहल का बाहरी भाग दिखायी देता है। महाद्वार पर सशस्त्र प्रहरी हैं। महल एक ऊँचे चौंतरे पर बना हुआ है और उस पर चढ़ने के लिए चौड़ी सीढ़ियाँ हैं। महल के निर्माण में यद्यपि पाषाण का ही उपयोग हुआ है, तथापि यत्र-तत्र वह टूट गया है। फिर महल का भीतरी विशाल सभा-भवन दिखता है। सभा-भवन की छत पाषाण में अत्यंत ऊँचे और स्थूल स्तंभों पर है, जो खुदाव के काम से विभूषित है। छत तथा दीवालों पर सुंदर रंग एवं मनोहर चित्र हैं। फ़र्श पर रंग-बिरंगे कालीन बिछे हैं। कक्ष के बीच में सुवर्ण की गद्दीदार चौकी रखी है। उसके सामने एक और चौकी है। दोनों के बीच में टेबिल के सदृश एक और चौकी है। इस चौकी पर शतरंज बिछी है; एक

ओर के मोहरे सुवर्ण के हैं और दूसरी ओर के चाँदी के। पहली चौकी पर वहाँ के नरेश तथा दूसरी पर वहाँ के एक प्रतिष्ठित सज्जन बैठे शतरंज खेल रहे हैं। दोनों के निकट दो और ऊँची सुवर्ण की चौकियाँ रखी हैं, जिन पर सुवर्ण के सुरा-पात्रों में मदिरा रखी है। इधर उधर और भी कई चौकियाँ हैं, जिन पर राज-कर्मचारी आदि बैठे हैं। अनेक दास, दासी खड़े हैं। शनैः शनैः यह दृश्य लुप्त हो जाता है।]

शैतान—अब पश्चिम के रोमन साम्राज्य की राजधानी और वहाँ की महा संपदा देख।

[सामने कुछ दूर छोटी-छोटी सात पहाड़ियों पर बसा हुआ रोम नगर दिखायी देता है। फिर वह निकट से दिखने लगता है और उसका राज-मार्ग दृष्टिगोचर होता है। मार्ग के दोनों ओर पंक्ति में ऊँचे-ऊँचे एक-एक खंड के मकानों में दूकानें हैं, जो विविध प्रकार की वस्तुओं से सजी हैं। इस मार्ग पर पैदल तथा रथों और घोड़ों पर रोम का जन-समुदाय दिखायी देता है। अधिकांश लोग गेहुँएँ रंग के हैं। पुरुष गले से जांघों तक लम्बे सिले हुए वस्त्र पहने हैं, जो कमर में कमर पेटी से बँधे हैं। कमर से पिंडलियों तक वे धोती के सदृश बिना सिला वस्त्र धारण किये हैं। ऊपर के सिले हुए वस्त्र में बाँहें नहीं हैं अतः भुजायें खुली हैं। इन वस्त्रों के ऊपर अधिकांश लोग एक लम्बा श्वेत दुपट्टा लिये हैं; जो बांयें कंधे से नीचे की ओर झूल रहा है, तथा दाहनी भुजा के नीचे से शरीर पर लिपटा

हुआ है। अधिकतर व्यक्तियों का सिर खुला है, कोई-कोई मुकुट लगाये हैं। स्त्रियाँ भी ऊपर के अंग में पुरुषों के समान ही सिला हुआ वस्त्र पहने हैं, उनकी भुजाएँ भी खुली हैं, किन्तु उनका वस्त्र पैरों तक लम्बा है। अनेक स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान दुपट्टा लिये हैं, जो उनका सिर भी ढाँके हुए है। जो स्त्रियाँ दुपट्टा नहीं लिये हैं वे सिर को एक पृथक पतले कपड़े से ढांके हैं। अनेक स्त्रियों के मुख पर इसी कपड़े का घूँघट भी है। दोनों वर्गों के वस्त्र ऊनी एवं रेशमी हैं तथा उन पर सुनहरी काम है। दोनों ही वर्गों के पैरों में चमड़े के हलके जूते हैं। पुरुष गले और अँगुलियों में रत्नजटित आभूषण और अँगूठियाँ पहने हैं। स्त्रियाँ गले और अँगुलियों के अतिरिक्त कानों में 'इअररिंग' धारण किये हैं और बालों में स्टार आदि लगाये हैं। निर्धनों की वेश-भूषा भी इसी प्रकार की है, किन्तु उनके कपड़े सूती हैं, साथ ही वे आभूषणों से रहित हैं। यह दृश्य परिवर्तित होकर शुक्र (वीनस) के विशाल संगमरमरी मन्दिर का बाहरी भाग दिखायी देता है। मन्दिर का प्रवेश-द्वार अत्यन्त ऊँचा है। फिर मन्दिर का भीतरी भाग दिखता है। बीच में विस्तृत चौक है और तीन ओर चौड़ी दालानें हैं जिनकी छत महराबों पर स्थित है और महराबों को स्तम्भ उठाये हुए हैं। छत, महराबें, स्तम्भ और फर्श सभी पर संगमरमर लगा हुआ है। बीच की दालान में अनेक संगमरमर की मूर्तियां सजी हैं। इस दालान के बीचोबीच भीतर की ओर मन्दिर का मुख्य कक्ष

है, जिसमें शुक्र की प्रतिमा है। मन्दिर में दर्शन करनेवालों के झुण्ड के झुण्ड आ जा रहे हैं। यह दृश्य भी परिवर्तित होकर मार्सेल्स के विशाल नाटक घर का बाहरी भाग दिखायी देता है। फिर नाटक घर का भीतरी भाग दिखता है। सामने की ओर ऊँची रंगभूमि है और उसके सामने अर्द्धचन्द्राकार रूप में दर्शकों के बैठने की चौकियाँ हैं। रंगभूमि के ऊपर, जिसे मह-रावें और स्तम्भ उठाये हैं, छत है। दर्शकों के बैठने का स्थान ऊपर से खुला है। नाटक घर बत्तियों से जगमगा रहा है। नाटक आरम्भ होनेवाला है और चौकियों पर बैठे हुए दर्शक उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह दृश्य भी परिवर्तित होता है और अब थेरमे के स्नानागार का बाहरी भाग दिखता है। स्नानागार एक ऊँचे चौतरे पर बना हुआ है। फिर स्नानागार का भीतरी कक्ष दिखता है, जिसमें स्नान के लिए जाने वाले स्त्री-पुरुष बैठे हुए स्नान की तैयारी कर रहे हैं। इस कक्ष की छत भी स्थूल स्तम्भों पर है और छत और दीवालों पर सुन्दर चित्रकारी हैं। फिर पुरुषों के स्नान के चार कक्ष दिखायी देते हैं। एक में भाप, दूसरे में गरम पानी के फुहारे, तीसरे में गरम पानी के कुण्ड और चौथे में ठण्डे पानी का तड़ाग है। ठण्डे पानी का तड़ाग इतना बड़ा है, कि उसमें कई पुरुष सुविधा-पूर्वक तैर सकते हैं। इन सब कक्षों में पुरुष स्नान कर रहे हैं। इसी प्रकार स्त्रियों के स्नान करनेवाले चार कक्ष दिखते हैं जिन-में स्त्रियों का स्नान दृष्टिगोचर होता है। यह दृश्य भी परिवर्तित

होकर रोम की पैलेटाइन नामक पहाड़ी पर विशाल राज-प्रासाद का बाहरी भाग दिखता है, जिसके महाद्वार पर सशस्त्र प्रहरी है। फिर प्रासाद का विस्तृत भीतरी कक्ष दिखायी देता है, जो अगणित बत्तियों के प्रकाश से जगमगा रहा है। कक्ष की छत स्थूल संगमरमर के स्तम्भों पर है। छत और दीवालों पर भी संगमरमर लगा हुआ है। स्तम्भों के नीचे की चौकियों और ऊपर की टोड़ियों पर नाना प्रकार की मनोहर मूर्तियाँ खुदी हैं और छत एवं दीवारों पर भी खुदाव का सुन्दर काम है। फर्श पर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे हैं और सोने-चाँदी की रत्नजटित अनेक वस्तुएँ सजी हैं। बीच में सुवर्ण के रत्नजटित सिंहासन पर रोमन सम्राट् बैठे हुए हैं। सिंहासन के पीछे अनेक दासियाँ खड़ी हैं और सिंहासन के सामने अनेक युवतियाँ नृत्य कर रही हैं तथा अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद्य बजा रही हैं। सम्राट् और युवतियों के चमचमाते हुए वस्त्राभूषण आँखों को चकाचौंध कर रहे हैं। धीरे-धीरे यह दृश्य भी लुप्त हो जाता है।]

शैतान—मैं तुझे पश्चिमी सभ्यता के मूल स्थान यूनान और वहाँ की राजधानी एथेन्स को अब न दिखाऊँगा, क्योंकि वह दीर्घकाल से रोमन साम्राज्य के अंतर्गत है। रोम में जिस सभ्यता और संस्कृति का तूने अवलोकन किया, वह यथार्थ में यूनान की ही है, क्योंकि रोमन लोग तो बर्बर थे, और उन्होंने यूनान की ही सभ्यता को ग्रहण कर उसे बढ़ाया है। किन्तु मिश्र देश के प्रसिद्ध पिरेमिड और एलैक्जैंड्रिया राजधानी की वसुधा तुझे और दिखाता हूँ। यद्यपि

मिश्र भी इस समय रोमन साम्राज्य के अंतर्गत हो गया है, किन्तु एक तो उसे रोम के अन्तर्गत हुए अभी बहुत थोड़ा समय हुआ है, दूसरे वहाँ की सभ्यता संसार में अपना पृथक् एवं विशिष्ट स्थान रखती है। फिर मिश्र की सभ्यता के दर्शन करने से तुझे प्राचीन बैबीलोनिया और असीरिया की सभ्यता कैसी थी, इसका भी ज्ञान हो जायगा, क्योंकि मिश्र की सभ्यता और बैबीलोनिया तथा असीरिया की सभ्यता का प्राय: एक-सा ही रूप था।

[सामने दूर 'गिजेह' पहाड़ी दिखती है, जिस पर 'खुफ़ू' 'खाफरा' और 'मैनकॉरा' मिश्र देश के तीनों प्रसिद्ध पिरेमिड दिखायी देते हैं। इनके इधर-उधर और भी कई छोटे-छोटे पिरेमिड हैं, जिनमें अनेक टूट-फूट गये हैं। कुछ और निकट से दिखने पर जान पड़ता है, कि सभी पिरेमिडों की बनावट एक-सी ही है। सभी ऊँचे चौंतरों पर बने हैं। उनकी बाहिरी दीवालें चार न होकर तीन ही हैं, जिनके एक-दूसरे से मिले रहने के कारण प्रत्येक पिरेमिड त्रिकोणाकार हो गया है। हर पिरेमिड के नीचे का भाग चौड़ा है, जैसे-जैसे पिरेमिड ऊँचा होता गया है वैसे-वैसे यह चौड़ाई कम होती गयी है और अंत में ऊपर जाकर नोक में परिणत हो गयी है। बाहिरी दीवालों पर पत्थर लगा है और बाहर से देखने पर पिरेमिडों में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। धीरे-धीरे 'खुफ़ू' पिरेमिड बहुत समीप से दिखने लगता है, फिर उसके भीतरी कक्ष दिखते हैं, और तब उसकी महान् विशालता का अनुमान होता है। उसके

भीतर के कक्षों में पत्थर का सुंदर काम है। यह दृश्य परिवर्तित होकर दूर पर एलैक्जैंड्रिया नगर दिखायी देता है। फिर वह निकट से दिखने लगता है और उसका मुख्य मार्ग दृष्टिगोचर होता है। मार्ग के दोनों ओर एक-एक खंड के सुंदर गृह बने हैं। गृहों के चारों ओर यथेष्ट अहाता है, जिसमें सामने सुंदर उद्यान है तथा पीछे एक-एक बड़ा कुण्ड। मार्ग पर पैदल तथा रथों और घोड़ों पर वहाँ के निवासियों का आवागमन दिखायी देता है। अधिकांश लोग साँवले रंग के हैं। पुरुष गले से घुटने तक लंबा सिला हुआ जामे के सदृश घेरदार वस्त्र तथा कमर से पैर तक बिना सिला धोती के सदृश कपड़ा पहने हैं। ऊपर का वस्त्र कमर पर कमर-पेटी से बँधा है। बायाँ कंधा और बायीं भुजा ढकी है, परन्तु दाहनी भुजा और कंधे के निकट से वस्त्र इस प्रकार कटा हुआ है, कि दाहना कंधा और भुजा खुली हैं। सिर पर वे छोटे-छोटे साफे बाँधे हैं। स्त्रियाँ गले से पैरों तक एक ही सिला हुआ वस्त्र पहने हैं, जो कमर तक चुस्त है और कमर के नीचे लँहगे के सदृश घेरदार। कमर पर वे भी कमर-पेटी लगाये हैं और उनका भी दाहना कंधा एवं दाहनी भुजा खुली हैं। इस सिले हुए वस्त्र के अतिरिक्त एक पतले दुपट्टे के सदृश वस्त्र से वे सिर ढाँके हैं। यह वस्त्र उनके बायें कंधे से नीचे तक लंबा लटका हुआ है। स्त्री-पुरुष दोनों के वस्त्र पतले सूत के बने हैं, अधिकतर वे लाल, पीले और श्वेत रंग के हैं और उन पर सुनहरी काम है। पुरुष गले और अँगुलियों में

हार एवं अँगूठियाँ पहने हैं। स्त्रियाँ गले और अँगुलियों के अतिरिक्त हाथों में कड़े और कानों में भी बालियाँ पहने हैं तथा बालों के नीचे मस्तक पर एक रत्नजटित स्वर्ण की पट्टी बाँधे हैं। दोनों वर्गों के व्यक्ति पैरों में चमड़े के जूते पहने हैं। चमकते हुए वस्त्र और भूषणों से सबके अंग-प्रत्यंग देदीप्यमान हैं। निर्धनों की वेश-भूषा भी इसी प्रकार की है, किन्तु उनके वस्त्र मोटे हैं तथा उनके शरीर पर आभूषण नहीं हैं। यह दृश्य भी परिवर्तित होकर वहाँ के अजायबघर का बाहिरी भाग दिखायी देता है। अजायबघर पत्थर का बना है। फिर उसके भीतरी कक्ष दिखते हैं। उनमें विविध प्रकार की वस्तुएँ सजी हैं। यह दृश्य भी परिवर्तित हो जाता है। अब राजमहल का बाहिरी भाग दिखायी देता है, जिस पर सशस्त्र प्रहरी घूम रहे हैं। तदुपरांत महल का भीतरी कक्ष दिखता है। इसकी छत पाषाण के स्थूल स्तंभों पर है। स्तंभों पर खुदाव का काम है, और छत तथा दीवारों पर चित्रकारी। फ़र्श पर गद्दीदार श्वेत बिछावन हैं, जिस पर स्वर्ण की चौकियाँ पंक्तियों पर रखी हैं। चौकियों के सामने स्वर्ण के थालों में भोजन की विविध सामग्रियाँ सजी हैं। बीच की चौकी पर, जो अन्य चौकियों से बड़ी है, मिश्र देश के प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुष बैठे हुए भोजन कर रहे हैं। इनके वस्त्राभूषणों से सारा दृश्य जगमगा रहा है।]

शैतान—देखा, मेरे विशाल साम्राज्य और विपुल वैभव को। अपने राज्य और संपत्ति का अनुमान कराने मैंने तुझे केवल उसका

थोड़ा-सा अंश दिखाया है। यदि सारा वैभव तुझे दिखाऊँ, तब तो न जाने कितना समय लगेगा। यदि तू काल्पनिक ईश्वर का विश्वास छोड़ दे तो इस समस्त साम्राज्य और संपत्ति का उपभोग कर सकता है।

ईसा—यह सारा साम्राज्य और वैभव भी ईश्वर का ही है, तेरा नहीं। हाँ, इसे भोगने और सदा इसे अपने अधिकार में रखने की लोभ-भावना अवश्य तेरी सम्पत्ति है। तू वृथा ही मुझे ललचाने का कष्ट कर रहा है, मैं लालच में आनेवाला नहीं। मैं ईश्वर की ही सेवा करूँगा।

आकाश—क्या अब भी तुम यही कहोगी, प्राणाधिके, कि मनुष्य अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की इन्द्रियों को तृप्त करने में ही लगा हुआ है। इस महापरीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् महात्मा ईसा ने ईश्वर की ही सेवा करने की अपनी प्रतिज्ञा को ईश्वर के सच्चे स्वरूप इस संसार की सेवा कर किस प्रकार कार्य-रूप में परिणत किया, इसका स्मरण दिलाने अब मैं तुम्हें पहले वह दृश्य दिखाता हूँ, जहाँ एक पर्वत-शिखर पर से ईसा इसी संसार को स्वर्गीय राज्य बनाने की अपनी विधि जन-समूह को बतला रहे हैं।

[सामने दूर पर पर्वत का एक छोटा-सा शिखर दृष्टिगोचर होता है। डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें इस शिखर पर पड़ रही हैं। उसके सामने दूर-दूर तक मनुष्य-समूह दिख पड़ता है। धीरे-धीरे पर्वत-शिखर निकट से दिखने लगता है। इस पर्वत-शिखर पर बैठे हुए ईसा गम्भीर स्वर में भाषण

दे रहे हैं। नीचे खड़ा हुआ जन-समुदाय उनका भाषण उनकी ओर एकटक देखते हुए एकाग्रता और श्रद्धा से सुन रहा है।]

ईसा—धन्य हैं वे, जिनकी आत्माएँ निराभिमान हैं, क्योंकि स्वर्गीय राज्य उन्हीं के लिए है। धन्य हैं वे, जो पश्चात्ताप करते हैं, क्योंकि वे ही शान्ति पायँगे। धन्य हैं वे, जो निर्बल हैं; क्योंकि पृथ्वी का राज्य उन्हीं को मिलेगा। धन्य हैं वे, जो न्याय के लिए भूख और प्यास सहन करते हैं, क्योंकि उन्हीं की तृप्ति होगी। धन्य हैं वे, जिनका हृदय दयापूर्ण है, क्योंकि उन्हीं पर दया की जायगी। धन्य हैं वे, जिनके शुद्ध अन्तःकरण हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे। धन्य हैं वे, जो शान्ति के संस्थापक हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर की संतान कहलायँगे; और धन्य हैं वे, जो न्याय-परायणता के लिए दंड पाते हैं, क्योंकि स्वर्गीय राज्य उन्हीं के लिए है।

['ईश्वर के पुत्र की जय', 'महात्मा ईसा की जय' शब्द होते हैं।]

ईसा—बंधुओ! तुम पृथ्वी के नमक हो। यदि नमक के स्वाद में खार न रहे तो उसमें वह कहाँ से मिलाया जा सकता है। फिर तो वह पैरों से कुचलने योग्य रह जाता है। अतः ध्यान रखो कि कर्तव्य-पथ से च्युत होकर तुम कहीं उस नमक के समान न हो जाओ जिसका खार नष्ट हो गया है। साथ ही, मित्रो! तुम संसार के प्रकाश हो। दीपक को जलाने के पश्चात् वह दीवट पर रखा जाता है और उससे गृह की वस्तुएं प्रकाशित होती हैं। अतः तुम भी

ऐसे कार्य करो कि तुम्हारा जीवन अन्यों के लिए दीपक के सदृश होवे।

[पुनः जयजयकार होता है।]

ईसा—अब तक तुमने सुना है कि हिंसा न करो, पर मैं तो कहता हूँ कि क्रोध ही न करो, क्रोध ही हिंसा का पिता है। तुमने आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत का उपदेश सुना है, किन्तु मैं तो कहता हूँ कि प्रतिकार लेने की ओर दृष्टि ही मत रखो। यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चपत मारे तो तुम दूसरा गाल उसके सम्मुख कर दो। तुमने अपने पड़ोसी से प्रेम और बैरी से बैर करने की बात सुनी है, किंतु मैं तो तुम्हें अपने बैरियों से भी प्रेम करने के लिए कहता हूँ। जो तुमसे प्रेम करते हैं, उनसे यदि तुम भी प्रेम करो तो इसमें पुरस्कार पाने योग्य बात ही कौनसी है? जो तुमसे घृणा करते हैं, उनसे प्रेम, और जो तुम्हें सताते हैं उन्हें क्षमा करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करो, पर जो कुछ तुम करो उसमें कपट और दिखावे को स्थान मत दो। प्रार्थना, व्रत, दान प्रत्येक कार्य धूर्त्तता और प्रदर्शन से रहित होना चाहिए।

[पुनः जयजयकार।]

ईसा—मित्रो! कोई मनुष्य दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता। तुम ईश्वर और धन दो की सेवा नहीं कर सकते। आधि-भौतिक सुखों के लालच में मत पड़ो। न्याय-परायण होकर ईश्वर के स्वर्गीय राज्य की प्रजा होने पर सुख तो छायावत अपने आप तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे।

[पुनः जयजयकार ।]

ईसा—दूसरों के दोष देखने और दूसरों को उपदेश देने के पहले अपने दोषों को देखो और अपना सुधार करो। अपनी आँख में पड़ी हुई लकड़ी को न देख दूसरे की आँख में पड़े तिनके को क्यों देखते हो? जब तक तुम अपनी आँख में पड़ी हुई लकड़ी को नहीं निकाल देते तब तक दूसरे की आँख के तिनके को किस प्रकार निकाल सकते हो? जब तुम अपनी आँख की लकड़ी को निकाल दोगे तब दूसरे की आँख के तिनके को निकाल सकोगे।

[पुनः जयजयकार ।]

ईसा—बंधुओ! अंत में मैं यही कहना चाहता हूँ, कि जो मेरी कही हुई बातों पर चलेगा, उसका जीवन उस बुद्धिमान् के गृह-सदृश होगा जो चट्टान पर बनाया जाता है और जिसे भीषण तूफ़ान, आँधी और वर्षा कोई भी डिगा सकने में असमर्थ होते हैं, किन्तु जो मेरी बातों की अवहेलना करेगा, उसका जीवन उस मूर्ख के घर के समान होगा, जो बालू पर बनाया जाता है।

['ईश्वर के पुत्र की जय', 'महात्मा ईसा की जय' इत्यादि शब्द होते हैं।]

आकाश—सुना, प्रिये, ईसा का यह अपूर्व उपदेश? स्मरण आया तुम्हें ईसा के महान् आचार धर्म का प्रतिपादन? इस उपदेश के पश्चात् ईसा ने इसी संसार में स्वर्गीय राज्य स्थापित करने वाले अपने आचार धर्म का स्वयं जिस प्रकार व्यवहार किया, समस्त संसार से प्रेम करते हुए दीन-दुखियों की जिस प्रकार सेवा की, और

अपने बारह निकटतम शिष्यों को अपने धर्म का प्रचार करने के लिए जिस प्रकार देश-देशांतर को भेजा, वह सब वृत्त अब तो तुम्हें स्मरण आ ही गया होगा ? ईसा जब जरूसलम आये तब वहाँ की धर्म एवं राज-सत्ता ने उनके स्वर्गीय राज्य की स्थापना के प्रयत्न को अपने लिए भयानक मान उन्हें किस प्रकार प्राण दण्ड दिया, वही दृश्य अब मैं तुम्हें दिखाता हूँ। जरूसलम के प्रधान धर्माचार्य कियाफ़ा के यहाँ षड्यन्त्रकारियों की सभा का अवलोकन करो।

[सामने जरूसलम के प्रधान धर्माचार्य कियाफ़ा के भवन का कक्ष दिखायी देता है, जिसकी छत स्थूल पत्थर के स्तम्भों पर है। सामने एक सिंहासन के सदृश चौकी पर कियाफ़ा बैठे हुए हैं। उनके सामने अनेक चौकियाँ हैं, जिन पर अनेक धर्माचार्य, कानून के आचार्य और प्रजा-प्रतिनिधि बैठे हैं। कियाफ़ा गले से पैर तक लम्बा लाल चोग़ा पहने हैं, जिस पर सुनहरी काम है और जिसमें सुवर्ण की छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हैं। सिर पर वे मुकुट लगाये हैं। शेष सभी लोग गले से पैर तक विविध रंगों के लम्बे चोगे पहने हैं और सिर पर भिन्न-भिन्न रंगों के छोटे-छोटे कपड़े बाँधे हैं, जो पीछे की ओर लटक रहे हैं।]

कियाफ़ा—तूफान! इससे बड़ा तूफान और क्या होगा ? जहाँ वह जाता है वहीं तूफान के समान जाता है। सारे प्राचीन सिद्धान्त रूपी वृक्ष उसकी शब्दावली की आँधी से जड़ से हिलने और उखड़-उखड़ कर गिरने लगते हैं।

एक धर्माचार्य—जिस समानता के सिद्धांत का वह प्रचार

करता है वह सिद्धांत ही हमारे मूल धार्मिक सिद्धांत के ठीक विपरीत है। यहूदी जाति तो ईश्वर की चुनी हुई जाति है। हमारी और अन्य जातियों की समानता! यह क्योंकर हो सकता है?

एक प्रजा-प्रतिनिधि—उसका स्वर्गीय राज्य भी तो अद्भुत कल्पना है! ऐसा राज्य कभी स्थापित हो सकता है, जिसमें राजा-प्रजा, धनवान्-दरिद्री किसी का भेद ही न रहे! इस प्रकार के स्वर्गीय राज्य स्थापित करने का उसका यत्न कानून द्वारा संस्थापित राज्य के विरुद्ध विप्लव है।

एक कानून का आचार्य—अवश्य; और यही उपदेश क्या, उसकी सभी बातें कानून की दृष्टि से दण्डनीय हैं।

दूसरा प्रजा-प्रतिनिधि—हाँ, संसार में निर्धन एवं दुखी ही अधिक हैं। और वे सब उसके साथ हैं, क्योंकि वह स्वयं भी जो नंगा है।

चौथा प्रजा-प्रतिनिधि—आप लोगों ने सुना या नहीं, मुझे नहीं मालूम, किन्तु मैंने विश्वसनीय सूत्र से सुना है कि उसने हाल ही में अपने एक उपदेश में कहा था कि 'धनवान से स्वर्गीय राज्य में प्रवेश पाने की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद में से निकल जाना कहीं अधिक सरल है।'

बहुत-से सभासद—हाँ, हाँ, सुना था, सुना था।

पहला प्रजा-प्रतिनिधि—धनवानों के साथ वह राज्य की भी तो जड़ काट देना चाहता है। राज्य-कर तक न पटाने का उसने उपदेश किया है। हाल ही में उसने कहा था कि 'जो सीज़र का है

वह सीज़र को दो और जो ईश्वर का है वह ईश्वर को।' जिसका अर्थ भी यह होता है कि सीज़र को कुछ न दो।

दूसरा प्रजा-प्रतिनिधि—सुना है उसने जरूसलम के नाश की भविष्य-वाणी भी की है।

तीसरा धर्माचार्य—और हमारे प्रधान-मन्दिर के नाश की भी।

पाँचवाँ प्रजा-प्रतिनिधि—इसी प्रकार की बातें सुन-सुनकर तो सभी निर्धन, दुःखी उसके साथ हो गये हैं।

चौथा धर्माचार्य—बातें ही सुनकर क्यों? वह उनके लिए बहुत कुछ करता भी है।

पाँचवाँ धर्माचार्य—क्या करता है?

चौथा धर्माचार्य—भूखों के भोजन की व्यवस्था करता है। रोगियों की चिकित्सा करता है। सुना नहीं कि उसने अन्धों, गूँगों और कोढ़ियों तक को अच्छा कर दिया है।

पाँचवाँ धर्माचार्य—अरे! ये सब व्यर्थ की बातें हैं। जन-समुदाय को अपनी ओर करने के लिए उसने ये झूठी कहानियाँ फैलवायी हैं।

चौथा धर्माचार्य—नहीं, नहीं मेरे एक विश्वासपात्र मनुष्य ने स्वयं अपनी आँखों से उसका यह कार्य......

कियाफ़ा—(बीच ही में) जो कुछ भी हो, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि निर्धन और दुखी उसकी ओर हैं और उसके इन उपदेशों से हमारे धर्म को भारी भय है।

पहला प्रजा-प्रतिनिधि—राजसत्ता को भी कम भय नहीं।

क्रियाफ़ा—अवश्य, तब फिर क्या किया जावे ?

दूसरा कानून का आचार्य—कानून के अनुसार उसे मृत्युदण्ड दिया जा सकता है ।

क्रियाफ़ा—मृत्युदण्ड !

पहला प्रजा-प्रतिनिधि—यही उचित भी होगा । या तो मृत्यु-दण्ड सुनते ही उसका मस्तिष्क ठिकाने आ जावेगा, अपने स्वर्ग जाने की प्रत्यक्ष व्यवस्था देखते ही वह स्वर्गीय राज्य की स्थापना के स्वप्न भूल जावेगा और अपना पथ छोड़ देगा, या मृत्यु-मुख में जावेगा ।

दूसरा प्रजा-प्रतिनिधि—हाँ, दोनों ही परिस्थितियों में धर्म और राजसत्ता को कोई भय न रहेगा ।

तीसरा प्रजा-प्रतिनिधि—जहाँ वह बन्दी हुआ वहाँ उसके सब साथी भी उसे छोड़कर भाग खड़े होंगे ।

चौथा प्रजा-प्रतिनिधि—इसमें क्या सन्देह है ? सब से बड़ी बात तो यह होगी कि उसके बन्दी होते ही किसी को यह विश्वास ही न रह जावेगा कि वह ईश्वर का पुत्र है ।

पाँचवाँ प्रजा-प्रतिनिधि—**(मुसकराकर)** अवश्य, ईश्वर का पुत्र बन्दी थोड़े ही हो सकता है ।

पहला प्रजा-प्रतिनिधि—मूर्ख कहीं का ! ईश्वर का पुत्र बनता है । बन्दी होते ही सारी कलई खुल जावेगी ।

क्रियाफ़ा—**(चारों ओर देखकर)** यहाँ प्रायः सभी धर्माचार्य, कानून के आचार्य और प्रजा-प्रतिनिधि उपस्थित हैं । कहिए, आप लोगों की क्या सम्मति है ?

पहला धर्माचार्य—उसने धर्म पर घोर कुठाराघात किया है। वह धार्मिक दृष्टि से मृत्यु-दण्ड का पात्र अवश्य है।

बहुत-से धर्माचार्य—अवश्य, अवश्य।

पहला प्रजा-प्रतिनिधि—और राजसत्ता उलट देने के लिए भी उसने कम आंदोलन नहीं किया, अतः राजकीय दृष्टि से भी उसे मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिए।

बहुत-से प्रजा-प्रतिनिधि—अवश्य, अवश्य।

कियाफ़ा—तो यह निर्णय हो गया कि उसके मृत्यु-दंड की व्यवस्था की जाय?

बहुत-से सभासद—अवश्य, अवश्य।

चौथा धर्मगुरु—........किंतु........

कियाफ़ा—(**जल्दी से**) किंतु-परन्तु का अब प्रश्न ही नहीं उठता। सभी उसके मृत्यु-दंड के संबंध में एकमत हैं। क्यों बंधुगण?

बहुत से सभासद—निस्संदेह, निस्संदेह।

छठवाँ प्रजा-प्रतिनिधि—आप लोगों को यह सुनकर हर्ष होगा कि आप लोगों के इस निर्णय की पहले से ही कल्पना कर मैंने उसी के एक शिष्य यहूदी को तीस मुद्राओं पर इस बात के लिए ठीक कर लिया है कि वह उसे बंदी कराने में सहायता देगा।

कियाफ़ा—(**आश्चर्य से**) केवल तीस मुद्राओं पर?

छठवाँ प्रजा-प्रतिनिधि—ईसा-सदृश व्यक्तियों के जीवन का इससे अधिक और क्या मूल्य हो सकता है? यह तो हम लोगों की क्षमावृत्ति के कारण वह इतनी खुराफ़ात मचा सका, और अब उसके

लिए तीस मुद्राएँ भी खर्च करनी पड़ रही हैं, नहीं तो जब उसने नेज़रथ में गड़बड़ मचाना आरम्भ किया था उस समय क्षणभर में विना किसी प्रकार के व्यय के सारा खेल समाप्त किया जा सकता था।

पहला प्रजा-प्रतिनिधि—सचमुच आपने बड़ा कार्य किया है।

कियाफ़ा—इसमें क्या संदेह है ?

बहुत-से सभासद—अवश्य, अवश्य।

कियाफ़ा—तो अब इस कार्य में विलंब न होना चाहिए। इस बात का भी प्रयत्न होना चाहिए कि उसका मुक़दमा पाण्टियस पाइलेट के पास ही जावे तथा पाइलेट से कहला देना चाहिए कि धर्माचार्यों, कानून के आचार्यों एवं प्रजा-प्रतिनिधियों, सबकी यह सम्मति है कि ईसा को मृत्यु-दंड ही दिया जाय तथा तब तक उसे क्षमा न किया जाय जब तक वह अपना पथ छोड़ने का वचन न दे।

पहला क़ानून का आचार्य—यह सब व्यवस्था हो जायगी।

आकाश—ईसा को इन षड्यंत्रकारियों ने जिस प्रकार उन्हीं के यहूदी शिष्य की सहायता से बंदी कराया और उस समय उनके सभी साथियों, यहाँ तक कि निकटतम शिष्य पीटर तक ने जिस प्रकार उनका साथ छोड़ दिया, उस सबका अब तुम्हें स्मरण आ गया होगा, प्रिये ? पाण्टियस पाइलेट ने झूठी साक्षियों पर भी ईसा को जिस प्रकार प्राण-दंड की आज्ञा दी वह भी कदाचित् तुम्हें स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु हाँ, दुष्ट राजकर्मचारियों ने किस प्रकार ईसा का नीच अपमान किया और उस नीच अपमान को

शांतिपूर्वक सहन कर ईसा ने अपने सिद्धांतों को छोड़ देने के बदले प्राणों तक को तुच्छ मान किस प्रकार मृत्यु का आलिंगन किया, वह दृश्य तुम्हें अवश्य दिखाऊंगा।

[सामने अनेक सैनिकों के बीच में बंदी ईसा दिखायी देते हैं।]

एक सेनाध्यक्ष—(दूसरे सेनाध्यक्ष से) सूली पर चढ़ाने के लिए ले चलने के पूर्व स्वर्गीय-राज्य के सम्राट् यहूदियों के इस राजा का उचित विधि से सम्मान तो कर दो।

दूसरा सेनाध्यक्ष—अवश्य, नहीं तो मरने के समय इसके मन में यह साध ही रह जायगी। मरने के पूर्व की इसकी सब इच्छाओं को यथासाध्य पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है।

पहला सेनाध्यक्ष—(एक सैनिक से) इसके राज-मुकुट और चोगा आदि कुछ वस्तुएँ बनाने की मैंने तुम्हें आज्ञा दी थी, वे बन गयीं ?

सैनिक—जी हां, तैयार हैं।

पहला सेनाध्यक्ष—कहां हैं ?

वही सैनिक—निकट ही रखी हैं, श्रीमान्।

पहला सेनाध्यक्ष—उन्हें शीघ्र ही ले आओ।

वही सैनिक—जो आज्ञा।

[दो सैनिकों के साथ वह सैनिक जाता है और शीघ्र ही काँटों के एक मुकुट, लाल रंग के एक चोगे और लकड़ी के एक राजदण्ड के साथ तीनों सैनिक लौट आते हैं। इन वस्तुओं

को देख दोनों सेनाध्यक्ष और सब सैनिक खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं ।]

पहला सेनाध्यक्ष—अब स्वर्गीय राज्य के सम्राट् को सुसज्जित करो।

[ईसा को लाल चोगा पहनाया जाता है और उनके सिर पर काँटों का मुकुट लगा, हाथ में लकड़ी का राजदण्ड दिया जाता है। ईसा शान्त रहते हैं ।

पहला सेनाध्यक्ष—(ईसा के सामने घुटने टेककर) हे स्वर्गीय राज्य के सम्राट्, हे यहूदियों के राजा, मैं आपका अभिवादन करता हूँ ।

[फिर वह उठकर ईसा के मुख पर थूकता है । इसी प्रकार दूसरा सेनाध्यक्ष भी अभिवादन कर ईसा के मुख पर थूकता है। इतने पर भी ईसा विचलित नहीं होते ।]

पहला सेनाध्यक्ष—(सैनिकों से) अच्छा, अब इसकी यह राजकीय पोशाक उतार लो और इसकी सूली का 'क्रास' इसी को दो। यही उसे ढोकर स्ट्रइगस द्वार से सूली के स्थान पर ले चलेगा ।

[ईसा के हाथ से लकड़ी का राजदण्ड ले लिया जाता है । उसका काँटों का मुकुट और लाल चोगा उतार लिया जाता है । एक सैनिक जाता है और दो मजदूरों के सिर पर लकड़ी का क्रास रखाकर लाता है ।]

पहला सेनाध्यक्ष—(ईसा से) उठा, इस क्रास को और ले चल अपने भाग्य-निर्णय के स्थान पर ।

[ईसा चुपचाप, किन्तु कठिनाई से, क्रास को उठाकर आगे बढ़ते हैं, पर बोझ के कारण उनसे शीघ्र नहीं चला जाता ।]

पहला सेनाध्यक्ष—(ईसा को चाबुक मारते हुए) पैर टूट गये हैं, या मरने से भय लगता है ? बड़ा साहसी बनता था, कायर कहीं का ! यदि मरने से भय लगता है तो पहले ऐसे कर्म ही क्यों किये थे ? भूल हो गयी थी तो क्षमा माँग लेता ।

[फिर वह ईसा को चाबुक मारता है, किन्तु ईसा शान्त-भाव से उसी प्रकार चलते जाते हैं ।]

आकाश—दूसरों के लिए मनुष्य इससे अधिक और क्या सहन कर सकता है, प्रिये ? अब ईसा की अन्तिम झाँकी के और दर्शन कर लो, दो साधारण चोरों के साथ यह महापुरुष भी सूली पर चढ़ा दिया गया था ।

[सामने एक टीले पर कुछ दूर तीन सूलियाँ दिखायी देती हैं । अस्त होते हुए सूर्य की किरणें उन पर पड़ रही हैं । धीरे-धीरे सूलियाँ निकट से दिखने लगती हैं । बीच की सूली पर ईसा टंगे हुए हैं । अनेक पथिक इधर-उधर खड़े हैं ।]

एक—बीचवाला वह मनुष्य है, जो अपने को मनुष्य और ईश्वर दोनों का पुत्र कहता था ।

दूसरा—हाँ, बीचवाला, बहुत-से ऐसे ईश्वर के पुत्रों को देख लिया ।

तीसरा—संसार का उद्धार करना चाहता था, पर अपना सूली से उद्धार न कर सका ।

चौथा—अभी भी यदि यह सूली से उतर आवे तो मैं मान लूँगा कि यह ईश्वर का पुत्र है।

पाँचवाँ—इस प्रकार यदि लोग सूली से उतरने लगें तो फिर संसार का काम चल चुका।

छठा—चलो, चलो, अपना रास्ता लें, व्यर्थ के लिए समय खोने से क्या लाभ ?

[उसी समय ईसा सूली पर कुछ छटपटा ज़ोर से चीख़कर कहते हैं।]

ईसा—क्षमा ! भगवन् ! क्षमा। उन्हें क्षमा करना जिन्होंने मुझे सूली पर चढ़ाया है। अज्ञान के कारण वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।

आकाश—सूली पर चढ़ानेवालों के लिए भी क्षमा-प्रार्थना ! त्याग की पराकाष्ठा है। अभी भी तुम क्या यही कहोगी कि मनुष्य अपने लिए अन्य को कष्ट दे रहा है ? ईसा के इस अपूर्व त्याग से उनके अनुयायियों को जो स्फूर्ति मिली इसका भी तुम्हें अब स्मरण आ गया होगा ? उनके अनुयायियों ने उनकी जीवितावस्था में चाहे उन्हें धोखा दिया हो, किन्तु ईसा के इस त्याग ने उनमें नव-जीवन का संचार कर दिया। जीवित ईसा की अपेक्षा मृत ईसा कहीं अधिक शक्तिशाली हो गये। उनके अनुयायियों ने ईसा के धर्म का जिस प्रकार प्रचार किया उसकी अब तुम्हें स्मृति आ गयी होगी ? इस महान् कार्य में ईसा के आदर्श का अनुसरण कर उन्होंने भी अपने प्राणों को तुच्छ मान जिस असीम दृढ़ता का परिचय दिया उसका

पूर्ण स्मरण दिलाने के लिए उसके भी कुछ दृश्य मैं तुम्हें दिखाता हूँ, जिससे फिर तुम यह न कह सको कि सामूहिक रूप से मनुष्य अपने सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का अनुभव और उसके अनुरूप कर्म नहीं कर रहा है। यह देखो, ईसा के प्रधान शिष्य पीटर और जान को। इनके धार्मिक प्रचार के कारण जरुसलम के सैनिक किस निर्दयता और क्रूरता से इन्हें पीट रहे हैं। परन्तु इतने पर भी ये अपने सिद्धान्तों पर अटल हैं।

[सामने जरूसलम के एक मैदान का दृश्य दिखता है। तीन ओर वहाँ के निवासियों का बड़ा भारी समुदाय दृष्टिगोचर होता है। बीच में सैनिकों से घिरे हुए पीटर और जान हैं। इन्हें दो सैनिक चाबुकों से पीट रहे हैं, किन्तु वे पाषाण-मूर्तियों के समान दृढ़ता एवं शांतिपूर्वक खड़े हुए हैं।]

आकाश—ईसाइयों के पहले शहीद स्टीफिन के साहस का अवलोकन करो। जरूसलम के निवासियों ने पत्थर मार-मारकर उनके प्राण ले लिये, परन्तु अन्त तक वे अपने सिद्धान्त पर अटल रहे।

[सामने उपर्युक्त प्रकार के मैदान में ही जन-समुदाय से घिरे हुए स्टीफिन दिखते हैं। लोग उन्हें पत्थर मार रहे हैं।]

स्टीफिन—(हाथ जोड़कर आकाश की ओर ऊपर देखते हुए) हे ईश्वर! मैं इस शरीर की तनिक भी चिन्ता नहीं करता। मेरी आत्मा शीघ्र ही तेरे चरणों में आ रही है। मरते-मरते मैं तुझसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरी हत्या का दोष इन अज्ञानियों के मस्तक

पर न लगे। भगवन्! इन्हें क्षमा करना।

[स्टीफिन मरकर गिर पड़ते हैं।]

आकाश—अब जिनने ईसाई धर्म का सबसे अधिक प्रचार किया उन पॉल को भी पत्थरों की कैसी भीषण वर्षा का सामना करना पड़ा इसका भी निरीक्षण करो।

[सामने उपर्युक्त प्रकार से ही पॉल पर पाषाण-वर्षा का दृश्य दिखायी देता है, परन्तु पॉल की मृत्यु नहीं होती।]

आकाश—अकेले जरूसलम में ही ईसाइयों पर यह अमानुषिक अत्याचार हुए हों यह नहीं; तुम्हें मेरे यह कहते ही स्मरण आ गया होगा कि जैसे-जैसे ईसाई-धर्म अन्य देशों में फैलता गया, वैसे-वैसे इन अत्याचारों का क्षेत्र भी बढ़ता गया। रोमक साम्राज्य के सम्राट् दिसियस ने ईसाई-धर्म पर जिस प्रकार का व्यवस्थित दमन और अत्याचार आरंभ किया था वह तुम्हें विस्मृत न हुआ होगा? इस दमन एवं अत्याचार के विरुद्ध ईसाइयों की कोई सुनाई नहीं थी। सम्राट् दिसियस और उसके पश्चात् सम्राट् दायोक्लीति के समय ईसाइयों की अगणित पुस्तकें जलायी गयीं, उनकी संपत्ति का अपहरण किया गया। विद्रोही और विप्लवी घोषित कर उन्हें नाना प्रकार के शारीरिक कष्ट दिये गये। जिन अमानुषिक अत्याचारी प्रणालियों से उनके प्राण लिये जाते थे उनमें से केवल एक का दृश्य तुमको केवल इसलिए दिखा देता हूँ कि तुम्हें उन सभी प्रणालियों का स्मरण हो आवे। यह देखो जीवित अवस्था में ही एक ईसाई अग्नि पर भूना जा रहा है।

[सामने एक जलती हुई भट्टी दृष्टिगोचर होती है। उसके दोनों ओर लोहे के चार छोटे-छोटे स्तंभ हैं जिनके सहारे भट्टी पर एक छोटा-सा लोहे का पुल-सा बना है। इस पुल पर एक मनुष्य-शरीर लोहे के तारों से बँधा है, जिसका मांस और रुधिर गल-गलकर भट्टी में गिर रहा है और वह मनुष्य तड़प रहा है। भट्टी के तीन ओर जन-समुदाय दिखायी देता है।]

आकाश—स्मरण आया वह सब लोमहर्षण अत्याचार, प्राणेश्वरी! तुम्हें याद होगा कि इस प्रकार का महान् कष्ट एक, दो, चार, दस, पचीस, पचास, सौ, दो सौ नहीं सहस्रों ईसाइयों को सहना पड़ा था और उनका दोष क्या था? ईसा ने जिस स्वर्गीय राज्य की स्थापना का उपदेश दिया था उसका प्रचार।

पृथ्वी—ईसा पर तथा उनके शिष्यों पर किये गये दारुण अत्याचारों के दृश्य दिखाकर भी तुम यही कहते हो कि मनुष्य सामूहिक रूप से अपना मानसिक विकास कर रहा है?

आकाश—मैं यह कहाँ कहता हूँ कि मनुष्य का विकास हो चुका, मैं तो यही कहता हूं कि सामूहिक रूप से वह विकास की ओर अग्रसर है। कुछ मनुष्यों ने अवश्य इस प्रकार के अत्याचार किये, किन्तु उसका फल क्या निकला? अंत में अत्याचारों का ही सिर झुका। जिस राजसत्ता ने इन अत्याचारों पर कमर कसी थी, उसी राजसत्ता ने आगे चलकर किस प्रकार सिर झुकाया उसका स्मरण दिलाने के लिए रोमक सम्राट् कान्स्टेन्टाइन के तुम्हें दर्शन कराता हूं। यह देखो कान्स्टेन्टाइन ईसाई-धर्म की महत्ता एवं विशाल-

हृदयता को देख और यह मान कि बिना इसे ग्रहण किये मेरी गति ही संभव नहीं, मरने के पूर्व अपने बसाये हुए कान्स्टेन्टीनोपल के निकट एनकीरोना नामक स्थान पर एसीबियस पादरी द्वारा ईसाई-धर्म में दीक्षित हो रहे हैं।

[सामने एक साधारण भवन के कक्ष में पलंग पर रोग-ग्रस्त सम्राट् कान्स्टेन्टाइन अनेक दासों के सहारे बैठे हुए हैं। पलंग के पीछे राज-कर्मचारी आदि खड़े हैं और सामने एसीबियस पादरी अनेक पादरियों के साथ खड़े हुए कान्सटेन्टाइन को ईसाई-धर्म की दीक्षा (बपतिस्मा) देने का धार्मिक संस्कार कर रहे हैं। कान्स्टेन्टाइन खुले सिर श्वेत दुपट्टा ओढ़े हुए हैं। उनके दास गले से पैर तक श्वेत चोग़े पहने और शिर पर टोपियाँ लगाये हैं। राजकर्मचारी विविध रंगों के सुनहरी काम-वाले चोग़े धारण किये और ऊँची टोपियाँ लगाये हैं।]

कान्स्टेन्टाइन—(संस्कार पूर्ण होने पर मंद स्वर से अटक-अटककर) अब मैं सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास हो गया कि न्याय के दिन ईश्वर के पुत्र के सहारे मैं भी सद्गति को प्राप्त होऊँगा। मैंने अपने को ईसाई धर्म में दीक्षित कर केवल अपना ही उद्धार नहीं किया है, किन्तु मेरे पूर्व जितने सम्राटों ने ईसाइयों पर अत्याचार किये हैं उन सबके पापों का भी एक प्रकार से प्रायश्चित्त कर दिया है। आज से ईसाईधर्म रोमक साम्राज्य का राज-धर्म हुआ। मेरी अंतिम इच्छा यही है कि संसार-भर में ईसाई-धर्म का प्रचार हो, बड़े-बड़े गिरजे बनाये जावें, और जो

अपना सर्वस्व त्याग कर धर्म की सेवा के लिए भिक्षु-भिक्षुणी हो गये हैं उनके निवासार्थ राज्य भर में बड़े-बड़े मठ बनें।

[कान्स्टेन्टाइन धीरे-धीरे लेट जाते हैं।]

आकाश—सम्राट् कान्स्टेन्टाइन की अन्तिम इच्छा-पूर्ति के लिए जिस प्रकार का महाप्रयत्न हुआ, रोम के प्रधान पादरी पोप नाम से जिस प्रकार समस्त संसार में विख्यात् हुए, इसका तुम्हें स्मरण आ गया होगा। पोप की सत्ता सम्राट् की सत्ता से भी अधिक हो गयी थी। प्रजा को यदि कोई राजा किसी प्रकार का धार्मिक कष्ट देता तो पोप को अधिकार था कि वह उसे राज्यच्युत कर दे। पोप ही राजा का राज्याभिषेक कर सकता था। रोम का यह गिरजा सेन्ट पीटर और पोप का विशाल भवन वेटिकन, आशा है तुम अपनी अगणित वस्तुओं में से न भूली होगी ? यह देखो यह वह गिरजा है, जहाँ भगवान् की प्रार्थना कर मनुष्य अपने अन्तःकरण को शुद्ध करते हैं।

[सामने दूर पर रोम का विशाल गिरजा सेन्ट पीटर दिखता है। शनैः शनैः वह निकट से दिखने लगता है। फिर उसका भीतरी भाग दृष्टिगोचर होता है।]

आकाश—अब पोप के निवास-स्थान वेटीकन का अवलोकन करो, जहाँ से दीन-दुखियों की सेवा होती है।

[सामने कुछ दूर पर एक पहाड़ी पर वेटीकन-भवन दिखता है। धीरे-धीरे वह पास से दिखता है। फिर एक-एक कर उसके भीतर के कुछ भाग दिखायी देते हैं।]

पृथ्वी—परन्तु अन्त में ईसाई धर्म की भी वही दशा हुई जो बौद्ध-धर्म की हुई थी। ईसाई धर्म का पतन तो कदाचित् बौद्ध-धर्म से भी अधिक हुआ। ईसा ने शैतान के इतने ललचाने पर भी जिन आधिभौतिक सुखों को ठोकर मार दी थी, उन्हीं आधिभौतिक सुखों में ईसाइयों के प्रधान धर्मगुरु पोप महोदय किस प्रकार लिप्त हो गये, इनकी पूर्ति के लिए भोले-भाले धर्मभीरु जन-समुदाय को उन्होंने किन कुत्सित उपायों से लूटा, और अपने अधिकारों का किस प्रकार महा दुरुपयोग किया, यह सब तुम कदाचित् भूल ही जाना चाहते हो ? तुमने मुझे ईसाइयों के त्याग के अनेक दृश्य दिखाये हैं, मैं तुम्हें उनके राग के कुछ दृश्य दिखाना चाहती हूँ। कान्स्टेन्टाइन के लगभग पाँच सौ वर्ष पश्चात् पवित्र रोमन साम्राज्य के नाम से जो एक राज्य स्थापित हुआ था उस पवित्र साम्राज्य के पवित्र पोप महाशय का एक भोज तथा नृत्य देखो, और देखो कि जिस वेटीकन भवन से दीन-दुखियों की सेवा होती थी उसी में किस प्रकार राग-रंग होकर मदिरा की नदियाँ बह रही हैं; यह भी देखो कि धर्मभीरु मनुष्यों का धर्मार्थ दिया हुआ धन किसी प्रकार के सत्-कार्य में व्यय न होकर किस प्रकार के भोग-विलासों में खर्च हो रहा है।

[सामने पुनः वेटीकन दृष्टिगोचर होता है। शनैः शनैः उसका विशाल भोजनालय दिखता है। संगमरमर के कामदार स्थूल स्तम्भों पर नोकदार महराबें है, जिन पर भोजनालय की छत है। कक्ष की छत और भित्तियाँ सुन्दर रंगों से रंजित हैं। भित्तियों में बड़े-बड़े शीशे और चित्र लगे हैं। छत से मोम-

बत्तियों वाले भारी झाड़ झूल रहे हैं। जमीन पर गलीचा है, जिस पर भोजन के लिए श्वेत कपड़े से ढकी हुई लम्बी टेबिलें सजी हैं और इनके दोनों ओर गद्दीदार सुन्दर कुर्सियाँ हैं। टेबिलों पर अनेक प्रकार के भोज्य-पदार्थ तथा मदिरायें सजी हैं। बीच-बीच में पुष्पों से भरे फूलदान रखे हैं। कुर्सियों पर स्त्री और पुरुष दोनों ही बैठे हुए भोजन कर रहे हैं। स्त्री और पुरुष दोनों की वेश-भूषा अत्यन्त भड़कीली है। दोनों गले से पैर तक रंग-विरंगे सुनहरी काम के चोगे पहने हैं। स्त्रियों के चोगे कमर पर कमरपेटी से बहुत कस कर बंधे हैं, जिससे उनकी कमर बहुत पतली जान पड़ती है। स्त्री-पुरुष दोनों के चोगों की बाहें खूब ढीली हैं। स्त्रियाँ सिर पर छोटी-छोटी मुकुटों के सदृश टोपियाँ लगाये हैं। पुरुष खुले सिर हैं। हजारों मोम-बत्तियाँ झाड़ों में जल रही हैं, जिनसे सारा कक्ष जगमगा रहा है। शनैः-शनैः यह दृश्य परिवर्तित होकर नृत्यालय दृष्टिगोचर होता है। विस्तृत होने पर भी इस कक्ष में स्तम्भ नहीं है। भित्ति के सहारे तीन ओर गद्दीदार सोफ़े और कुर्सियाँ रखी हैं। इनके आगे टेबिलें रखी हैं जिन पर पुष्पों से भरे हुए फूलदान और मदिरायें सजी हैं। कक्ष के बीच में श्वेत बिछावन तान कर बिछायी गयी है, जिस पर स्त्री-पुरुष नृत्य कर रहे हैं। वेश-भूषा भोजन के समय के सदृश ही है। केवल हाथ के मोज़े और धारण कर लिये गये हैं। वाद्य भी बज रहा है। सहस्रों मोमबत्तियों के प्रकाश से कक्ष में दिन का सा उजाला हो रहा है।]

पृथ्वी—पोप ने इतना ही नहीं किया। ईसाई धर्म के नाम पर उन्होंने जितना रक्तपात किया उतना कदाचित् अब तक किसी भी धर्म के नाम पर नहीं हुआ है। ईसा के लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् जरूसलम को अपने अधिकार में रखने के लिए उन्होंने इस्लाम धर्मावलम्बियों के साथ क्रसेड नामक धर्म-युद्ध के नाम से जो सात घोर युद्ध किये थे वे तुम्हें स्मरण होंगे। इन युद्धों की विशेषता को भी, आशा है, तुम न भूले होंगे। यह विशेषता थी इन युद्धों में अधिकतर सेना का भाग न लेना और साथ ही प्राय: पोप महाशय, सम्राट् तथा धनी-मानियों का अपने-अपने स्थानों में सुखपूर्वक बैठे रहना, पर बेचारी सर्वसाधारण प्रजा का पोप की आज्ञा मान धर्म-रक्षा के लिए अपना तथा पराजितों का रक्त बहाना। जरूसलम में पहले धर्मयुद्ध के रक्त की जो नदियाँ बही थीं, उन्हें चाहे तुम भूल गये हो, क्योंकि तुम तो ऊपर से उस दृश्य को केवल देखते थे, परन्तु मैं कैसे भूल सकती हूँ? मेरा शरीर तो उस रुधिर से ऐसा लाल हो गया था कि वर्षों वह लाली न गयी। अरे! चौथे युद्ध में तो धर्म के नाम पर सहस्रों छोटे-छोटे बच्चे लड़ने के लिये गये थे, जो समस्त संसार के इतिहास में एक अभूत-पूर्व घटना है। इन दुधमुहें बच्चों के रक्तपात का जब मुझे स्मरण आता है तब तो मैं आज भी काँप उठती हूँ। इन सात युद्धों में से मैं केवल बच्चों का युद्ध-प्रस्थान तुम्हें दिखाती हूं, जिससे यदि तुम वह हृदय-विदारक घटना भूल गये हो तो तुम्हें उसकी स्मृति आ जावे।

[सामने पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्थावाले सहस्रों

लड़कों के झुण्ड का प्रस्थान दृष्टिगोचर होता है। सब भिन्न-भिन्न रंगों के कोट और पाजामे पहने हैं। सिर पर टोपियाँ लगाये हैं और हाथों में विविध प्रकार के अस्त्र लिये हैं। 'ईश्वर के पुत्र की जय', 'महात्मा ईसा की जय', 'धर्म की जय' इत्यादि शब्द सुनायी देते हैं।]

पृथ्वी—इन बच्चों का जिस भीषणता से रक्त बहा है, उस दृश्य को दिखाने का तो मेरा आज भी साहस नहीं होता। फिर अनेक बार दो व्यक्ति अपने को पोप कह कर आपस में ही लड़ते थे और इन कलहों में न जाने कितना रक्तपात होता था। इन धर्म-गुरुओं ने और भी......

आकाश—(बीच ही में) मुझे स्मरण है, प्रिये, कि उन दिनों में कुछ समय तक ईसाई धर्म पतित हो गया था, किन्तु उत्थान का पुनः प्रयत्न हुआ। जर्मनी देश में लूथर ने जन्म ले ईसाई धर्म के उत्थान का फिर से जो प्रयत्न किया उसे क्या तुम भूल गयीं ?

पृथ्वी—स्मरण है, प्राणेश, लूथर के प्रयत्न का भी स्मरण है। उनके प्रयत्न से पतन का थोड़ा-सा अवरोध हुआ, यह भी मैं मानती हूँ, परन्तु उनके अनुयायी सुधारकों ने इस सुधार के लिए जिन साधनों का प्रयोग किया वे भी तुम्हें स्मरण हैं ? ईसा के पश्चात् सहस्रों ईसाइयों ने अपने धर्म पर अटल रहने के लिए आततायियों के अत्याचारों को जिस प्रकार सहन किया था, लूथर के अनुयायियों ने उसी प्रकार के अत्याचार अपने सहस्रों विरोधियों पर कर स्वयं आततायियों का स्थान ले लिया था। जरूसलम तथा रोम आदि के निवासियों द्वारा

ईसाइयों पर किये गये अत्याचारों के दृश्य तुमने मुझे दिखाये थे। यदि तुम उन्हीं दृश्यों को परिवर्तित कर अत्याचार करनेवालों के स्थान पर ईसाइयों को रख लो तो तुम्हें इस काल के अमानुषिक अत्याचारों का स्मरण आ जावेगा। इसीलिए मैं ये दृश्य तुम्हें नहीं दिखाती। फिर जिस जर्मनी में लूथर ने जन्म लिया था उसी जर्मनी ने सन् १६१४ और सन् १६३६ में ईसाई धर्म का किस प्रकार अनुसरण किया? जिन ईसाइयों को ईसा ने यह उपदेश दिया था कि यदि कोई दाहने गाल पर चपत मारे तो दूसरा गाल भी उसके सम्मुख कर दो, वे ईसाई ईसा के पश्चात् परस्पर किस प्रकार लड़े हैं। यों तो गिनती के मनुष्यों को छोड़ अपने को ईसाई कहनेवाले सभी ईसाई सदा ही ईसा के उपदेशों के विरुद्ध चलते रहे हैं, किन्तु इन संग्रामों में तो उन्होंने अपने पतन की पराकाष्ठा दिखा दी। तुम कहते हो न कि वैज्ञानिक साधनों को मनुष्य संसार को सामूहिक सुख देने के लिए उत्पन्न कर रहा है, किन्तु इन वैज्ञानिक साधनों का उसने संसार को नष्ट करने के लिए किस प्रकार उपयोग किया, वह भी मैं तुमको अवश्य दिखाऊँगी, जिससे इन दारुण घटनाओं का तुम्हारे मन में पूरा चित्र खिंच जावे और तुम यह मान लो कि सृष्टि उत्थान की ओर नहीं, किन्तु घोर अधःपतन की ओर जा रही है। यह देखो यह जर्मनी का वह तोपखाना है जिसकी तोपों के गोले मीलों लम्बी मार करते थे।

[सामने तोपख़ाना दृष्टिगोचर होता है।]

पृथ्वी—और ये जर्मनी की वे बंदूकें हैं जो एक मिनिट में

सैकड़ों गोलियाँ दाग सकती थीं। ये गोलियाँ भी मीलों दूर तक जाती थीं।

[सामने सैनिकों के शिविर के सामने तीन-तीन बंदूकों के समूह की लंबी पंक्ति दृष्टिगोचर होती है।]

पृथ्वी—अब मैं तुम्हें स्थल, जल और वायु-सेनाएँ भी दिखाती हूँ जो इस घोर हत्याकांड के साधन हैं।

[पहले बैंड के साथ पैदल सेना का, तदुपरांत तोपख़ानों और टैंकों का कूच दिखता है। सेनाएँ आधुनिक समय के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की वर्दियाँ पहने हैं। दृश्य परिवर्तित हो समुद्र में लड़ाई के जहाज़ दिखायी देते हैं, फिर एक जहाज़ निकट से दिखकर उसके भीतर के भी कुछ भाग दिखते हैं। तदुपरांत अनेक 'तारपीडो' और 'सबमरीन' नावों के समूह तथा 'मॉइन्स' दिख पड़ते हैं। इनमें से कुछ नावें निकट से दिखती हैं और इनके भीतरी भाग भी दिखायी देते हैं। यह दृश्य भी परिवर्तित हो 'एरोड्रोम' (वायुयान स्टेशन) दिखायी देता है। उसमें वायुयानों का समूह दिखता है। एक वायुयान निकट से दिखता है और उसके भीतरी भाग भी दिखायी देते हैं। इसके उपरांत अनेक वायुयान आकाश में उड़ते हुए दिखायी देते हैं इनमें से पैरासूट उतरते हैं।]

पृथ्वी—अब उस भीषण युद्ध का भी अवलोकन करो। स्थल, जल और वायु सभी प्रकार के युद्ध देखो।

सामने दूर पर युद्ध-क्षेत्र दिखायी देता है। धीरे-धीरे

सैनिकों के खड़े होने की खाइयाँ दिखती हैं। फिर युद्ध दृष्टि-गोचर होता है। तोपों की मार, तदुपरांत बंदूकों की मार, फिर सेनाओं का आगे बढ़ना तथा पीछे हटना और सैनिकों का मरना एवं घायल होना इत्यादि युद्ध के सभी दृश्य दीख पड़ते हैं। शनैः शनैः दृश्य परिवर्तित होकर समुद्र में जहाज़ों की लड़ाई, उनसे तोपों-बंदूकों आदि की मार तथा उनका डूबना इत्यादि जल-युद्ध के अनेक दृश्य दिखायी देते हैं फिर वायु-युद्ध दृष्टि-गोचर होता हैं। सैनिकों की वेश-भूषा आधुनिक काल के अनुसार है।]

पृथ्वी—तुम्हें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन युद्धों में केवल लड़नेवाली सेनाओं का ही नाश नहीं हुआ किन्तु वायुयानों ने बम बरसा-बरसाकर नगर-के-नगर और ग्राम-के-ग्राम चौपट कर दिये। कुछ बम स्वयं ही उड़-उड़कर बरसते थे और राकेट नाम के कुछ बम इतनी शीघ्रता से चलते थे कि वे आवाज़ सुनायी देने के पहले ही विस्फोट द्वारा संहार का कार्य कर देते थे। इस प्रकार सहस्रों निर्दोष मनुष्यों और उनकी संपत्ति का संहार हुआ है। यह देखो बमों की वर्षा !

[सामने आकाश पर वायुयान मँडराते हुए दिखते हैं। उनसे बम गिरते हैं फिर उड़नेवाले बम और तेज़ी से आनेवाले राकेट तथा उनका विस्फोट दिखायी देता है। नीचे नगरों और ग्रामों के घर टूट-टूटकर गिरते और जलते हुए दिखायी देते हैं। उनके निवासी, जिनमें स्त्रियाँ और छोटे-छोटे बच्चे भी

हैं, चिल्लाते और भागते हुए दिख पड़ते हैं। इन सबकी वेश-भूषा वर्तमान समय की है परन्तु अधिकांश व्यक्ति आधे ही वस्त्र पहने हैं।]

पृथ्वी—अरे ! उस समय यात्रियों की यात्रा तक सुरक्षित न थी। अनेक जहाज़, जिनसे युद्ध का कोई संबंध नहीं, 'सबमरीनों' और 'माइंस' द्वारा डुवाये गये। देखो एक जहाज़ डूब रहा है और उसके यात्री कितने विकल हैं।

[सामने जहाज़ डूबने का दृश्य दिख पड़ता है। उसके यात्रियों की कारुणिक विकलता दृष्टिगोचर होती है। इन सबकी वेश-भूषा भी उपर्युक्त व्यक्तियों की वेश-भूषा के सदृश ही है।]

पृथ्वी—और अन्त में जो अणु-बम बना उसके तो स्मरण-मात्र से आज भी मेरी सृष्टि काँप उठती है।

[अणु-बम के द्वारा जो कुछ हुआ उसके भी कुछ दृश्य दिखते हैं।]

पृथ्वी—इतने पर भी मनुष्य कहता है कि यह सारा हत्या-काण्ड उसने अन्याय का दमन और न्याय की विजय करने के लिए किया है। क्या अभी भी तुम यही कहोगे कि मनुष्य सृष्टि की एकता के ज्ञान का अनुभव कर उसके अनुसार कर्म कर रहा है, वह प्रेम द्वारा सृष्टि को सुखी करने के प्रयत्न में है ? अभी भी क्या तुम्हारा यही विश्वास है, अंतरिक्ष, कि सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर जा रही है ?

आकाश—(**पृथ्वी के पास आ उसका आलिंगन करते और**

मुख चूमते तथा मुसकराते हुए) अवश्य, रत्नगर्भा ।

पृथ्वी—(कुछ आश्चर्य से) यह कैसे ?

आकाश—देखो, प्रिये, मैंने तुमसे कहा ही है कि हर वस्तु के पृथक्-पृथक् देखने से उन्नति और अवनति दोनों ही दीख पड़ती हैं, परन्तु सामूहिक दृष्टि से सृष्टि उन्नति की ओर ही अग्रसर है । बौद्धमत के समान ईसाई धर्म का कार्य समाप्त हो जाने पर उसका भी पतन हो गया, किन्तु सामूहिक रूप से सृष्टि की उन्नति न रुक जाय इसलिए तुम्हारे भारत देश में महात्मा गाँधी ने जन्म लिया है । यह देखकर कि केवल धर्म-प्रचार से मानव-समाज अपने ज्ञान के अनुसार कर्म नहीं कर सकता, केवल इतने ही से प्रेम का साम्राज्य और अहिंसा की स्थापना नहीं हो सकती, उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र यहाँ तक कि राजनीति में भी प्रेम और अहिंसा को प्रधान स्थान दिया है । फिर गाँधी के कार्यक्रम में एक और विशेषता है ।

पृथ्वी—वह क्या ?

आकाश—तुम्हीं ने अभी कहा था न कि मनुष्य कहता है कि उसने ये घोर युद्ध भी अन्याय का दमन और न्याय की विजय के लिए ही किये हैं ?

पृथ्वी—हाँ, कहता तो वह यही है ।

आकाश—नहीं, प्राणाधिके, यह केवल कहने की ही बात नहीं है । न्याय ने अन्याय को पाशविक बल के उपयोग से ही जीता है । गांधी ने अन्याय पर विजय प्राप्त करने के लिए एक नवीन मार्ग 'सत्याग्रह' का अनुसंधान किया है । इसमें पाशविक बल नहीं, किन्तु

आत्मिक बल की आवश्यकता है। संसार के अब तक के इतिहास से यही सिद्ध होता है कि जो आज अपने को न्यायशाली कह पाशविक बल का उपयोग करते हैं, आगे चलकर वे ही अन्यायी हो जाते हैं। गांधी के मार्ग में यह बात हो ही नहीं सकती। गांधी से संबंध रखनेवाले दृश्य अत्यंत नवीन हैं, अतः गांधी के स्वरूप का स्मरण-मात्र दिखाऊँगा। उनसे संबंध रखनेवाले दृश्य दिखा तुम्हारा समय मैं व्यर्थ के लिये नष्ट नहीं करना चाहता।

[एकाएक अँधेरा हो जाता है। थोड़ी देर में पुनः प्रकाश फैलता है।]

स्थान—वही

समय—वही

[आकाश और पृथ्वी पीछे की ओर मुख किये खड़े हैं। उनके सामने का स्थान पहले के समान ही शून्य है। पहले दूर से और फिर पास से महात्मा गांधी का विशाल चित्र दिखता है। एकाएक अँधेरा हो जाता है और धीरे-धीरे फिर प्रकाश फैलता है।]

पृथ्वी—परन्तु गांधी के प्रयत्नों का अब तक क्या फल निकला ?

आकाश—गांधी के कार्यों का क्या फल निकला, इसका निर्णय आज नहीं हो सकता। भविष्य इसका निर्णय करेगा। हम लोग भूत और वर्तमान का ही ज्ञान रखते हैं, उस ज्ञान से भविष्य में क्या होगा, इसकी कल्पना कर सकते हैं। भविष्य का सच्चा और पूर्ण ज्ञान तो उसी शक्ति के पास है जिसके द्वारा यह समस्त सृष्टि, असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र संचालित हो रहे हैं। कोई इस महाशक्ति को शक्ति कहते हैं, कोई ईश्वर, कोई इसे चैतन्य मानते हैं, और कोई जड़। आज तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सृष्टि को पुनः उत्थान की ओर अग्रसर करने के लिए महात्मा गांधी का

जन्म और उनके कार्य का आरम्भ हो गया है, भूत में जो कुछ हुआ है, तथा इस समय जो कुछ हो रहा है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि सामूहिक रूप से सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर अग्रसर है। इसमें सन्देह नहीं कि बीच-बीच में इस उन्नति के अवरोध होते हैं, किन्तु ये अवरोध सृष्टि की रचना से ही हो रहे हैं। तुमने कहा ही, कि जब तुम्हारी सृष्टि में सर्वप्रथम चेतन जीव सृष्टि का मत्स्य, रूप से प्रादुर्भाव हुआ, तब उसे नष्ट करने के लिए राक्षस भी उत्पन्न हुआ था, किन्तु इन अवरोधों का यह अर्थ नहीं है कि अवनति का आरम्भ हो गया है, वरन् ये अवरोध उलटे उन्नति के पोषक हैं। वेग की तीव्रता के लिए अवरोध आवश्यक होते हैं। जिस प्रकार चट्टानों के अवरोध से नदी का प्रवाह और भी तीव्रता धारण करता है, उसी प्रकार बीच-बीच में अवनति होने से उन्नति के प्रवाह की गति बढ़ती है। इस समस्त वाद-विवाद और भूत तथा वर्तमान के दृश्यों का अवलोकन कर हमने देख लिया कि जब-जब पतन हुआ तभी उन्नति का नवीन प्रकार से आरम्भ हुआ।

[एकाएक अँधेरा हो जाता है। थोड़ी देर पश्चात् पुनः प्रकाश फैलता है।]

स्थान—वही

समय—वही

[आकाश और पृथ्वी एक दूसरे का आलिंगन किये हुए सामने की ओर रुख किये खड़े हैं। उनके पीछे का दृश्य अब शून्य नहीं है। जिस प्रकार उनके प्रकट होते समय क्षितिज का मनोहर दृश्य था, उसी प्रकार फिर दिख पड़ता है।]

आकाश—कहो, बुद्धिमती इला, अब तो तुम मानती हो न, कि सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर ही अग्रसर है?

पृथ्वी—(मुसकराते हुए) नहीं, अन्तरिक्ष।

आकाश—(आश्चर्य से) यह क्यों, प्रिये?

पृथ्वी—देखो, प्रियतम, जो कुछ तुमने मुझसे कहा, वह सब मैंने बड़े ध्यान से सुना और जो कुछ तुमने मुझे दिखाया वह सब मैंने बड़े ध्यान से देखा है। अनेक भूली हुई बातें भी मुझे आज अच्छी प्रकार स्मरण हो आयी हैं और अब तो मुझे अपने मत की सत्यता पर और भी अधिक विश्वास हो गया कि समस्त सृष्टि चक्र-वत घूम रही है तथा इस समय सृष्टि पतन की ओर ही अग्रसर है।

आकाश—किस प्रकार, प्राणेश्वरी?

पृथ्वी—मनुष्य ने जो कुछ आज सहस्रों वर्ष पूर्व जान लिया था अर्थात् सृष्टि की एकता, उससे अधिक न तो वह कुछ जान पाया

और न सामूहिक रूप से इस ज्ञान का अनुभव कर इसके अनुसार वह अपने कर्म बना सका। तुम जानते हो कि यह ज्ञान सर्वप्रथम भारतवर्ष में वैदिक काल के ऋषि-महर्षियों को हुआ था। उन्होंने वेदान्त में अद्वैत के नाम से इसका प्रतिपादन किया था। इस ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य मनुष्य को ही बंधु मान उसके हित में दत्तचित्त रहे, वैदिक ऋषियों का इतना ही कथन न था। उन्होंने तो इससे भी कहीं बढ़कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कह समस्त सृष्टि को अपना कुटुम्ब मानने और 'सर्वभूत हितेरत:' कह समस्त योनियों के उपकार में दत्तचित्त रहने को कहा था। आचार में 'अभेद' रखने का उन्होंने उपदेश दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस 'अभेद' आचार-धर्म का निष्काम होकर पालन करने की आज्ञा दे इसे और भी ऊँचा उठा दिया था। इसी प्रकार भगवद्गीता के आचार-धर्म का उपदेश बुद्ध और ईसा के आचार-धर्म के उपदेश से कहीं बढ़कर है। बुद्ध और ईसा के बहुत पहले ईरान देश में जोरस्तर के धर्म की नींव भी ऐसे ही सिद्धान्तों पर अवलंबित थी। किन्तु विरले मनुष्यों को छोड़ शेष जन-समुदाय ने न कभी पहले इस ज्ञान का अनुभव कर इस आचार-धर्म का पालन किया और न आज वह इस ज्ञान का अनुभव कर इस आचार-धर्म पर चल रहा है। हाँ, शब्दों में सभी एकता, विश्व-प्रेम और विश्व-बंधुत्व की दुहाई देते हैं। बिना एकता का अनुभव और उसके अनुरूप कर्म किये, जो आधिभौतिक उन्नति हो रही है, उससे कितना नाश हो चुका है और हो रहा है, यह मैंने तुम्हें आज के कुछ दृश्य दिखाकर सिद्ध कर दिया है। भविष्य

में इस आधिभौतिक उन्नति से और भी अधिक नाश की सम्भावना है। उत्थान के जिन दृश्यों को तुमने मुझे दिखाया है उनमें बुद्ध और ईसा के उद्योगों ने पतन के वेग का अवरोध मात्र किया है और तुमने कहा ही कि अवरोध से वेग उलटा बढ़ता है। बुद्ध और ईसा के पश्चात् पतन की उत्तरोत्तर तीव्रगति से तुम्हारे इस मत का समर्थन भी होता है। तुम्हीं कहते हो कि गांधी के कार्यों का क्या फल निकलता है, यह आज नहीं कहा जा सकता; किन्तु तुम्हारे कथनानुसार यदि भविष्य में वही होना है जो भूत में हो चुका है, और मैं भी तुम्हारा यह मत मानती हूँ, तो गांधी के प्रयत्न भी बुद्ध और ईसा के प्रयत्नों के सदृश अन्त में इस पतन की गति को तीव्र ही करेंगे।

आकाश—परंतु, प्रिये, मनुष्य की उत्पत्ति को अभी कुछ लाख वर्ष ही हुए हैं। सृष्टि के जीवन में ये कुछ लाख वर्ष निमिष मात्र से अधिक नहीं हैं। यदि मनुष्य सामूहिक रूप से अब तक अपने इस ज्ञान का अनुभव नहीं कर सका और अपने कर्मों को अपने ज्ञान के अनुरूप नहीं बना सका, तो इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि भविष्य में भी वह इसे न कर सकेगा। उसकी उन्नति को रोकने के लिए जितना अधिक अवरोध होगा, उसकी उन्नति का वेग उतना ही अधिक बढ़ेगा। अनेक बुद्ध, ईसा और गांधियों को अभी जन्म लेना पड़ेगा।

पृथ्वी—यह केवल कल्पना-संसार है।

आकाश—कल्पना ही तो निर्माण की जननी है। जो कुछ

अभी तक निर्माण हुआ है वह यथार्थ में कल्पना का ही परिणाम है। मनुष्य में कल्पना करने की सबसे अधिक शक्ति है, इसीलिए तो वह तुम्हारी सृष्टि की सबसे श्रेष्ठ योनि है। तुम्हारे समुद्र में जो बड़े-बड़े जलयान आज बिना पतवारों के चल रहे हैं, तुम्हारी भूमि पर जो बड़ी-बड़ी रेलें और मोटरें बिना जीव-शक्ति के दौड़ रही हैं, तुम्हारे ऊपर जो बड़े-बड़े वायुयान बिना स्वाभाविक पंखों के उड़ रहे हैं, इनकी कल्पना इनके निर्माण के छः सौ वर्ष पूर्व तुम्हारी पश्चिम दिशा में रहनेवाले रोज़र बेकन नामक एक महापुरुष ने की थी। उस समय इन सब आविष्कारों का चिन्ह तक न था। क्या कोई उस समय विश्वास कर सकता था कि रोज़र की ये कल्पनाएं कभी निर्माण का रूप ग्रहण कर सकेंगी। भविष्य में मनुष्य सामूहिक रूप से एकता के ज्ञान का अनुभव कर इन आधिभौतिक साधनों द्वारा अनंत भूमण्डलों से संबंध स्थापित करके इन सब साधनों का समस्त सृष्टि के सुखार्थ उपयोग करेगा। यह कल्पना भी सत्य न होगी इसे कौन कह सकता है?

पृथ्वी—यह कल्पना सत्य हो ही नहीं सकती।

आकाश—क्यों?

पृथ्वी—क्योंकि मनुष्य में पाशविकता उसका नैसर्गिक दुर्गुण है। या तो सृष्टि मनुष्य से बढ़कर कोई प्राणी उत्पन्न करे तब वह उन्नति की ओर बढ़ सकती है, या उसका पतन अवश्यंभावी है। परन्तु मेरा तो विश्वास है कि वह मनुष्य से बढ़कर कोई प्राणी उत्पन्न कर ही नहीं सकती, क्योंकि चक्रवत् घूमना उसका नियम

है। इस समय उसका पतन हो रहा है। पूर्ण पतन होने के पश्चात् फिर उत्थान होगा। सृष्टि चक्रवत् घूम रही है, अवश्य चक्रवत् घूम रही है।

आकाश—नहीं, प्राणेश्वरी, विकास-मार्ग द्वारा उत्थान ही उसका नियम है। उसका उत्थान हो रहा है, अवश्य उत्थान हो रहा है।

पृथ्वी—मैं इसे नहीं मानती।

आकाश—और मैं तुम्हारा मत नहीं मानता।

पृथ्वी—(**आकाश का और भी दृढ़ालिंगन कर मुसकराते हुए**) तो इस विषय में हम दोनों का मत-भेद ही सही। सदा यह मत-भेद रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

(फिर अपना गायन गाती है।)

पृथ्वी—अहो ! यह प्रकृति बाल छबिमान,
सतत नियति से निश्चित इसका पतन और उत्थान।
मुरझा मुँदते नयन युग, सह दुख झंझावात,
खिलखिल हँस उठते कभी, लख सुख स्वर्ण प्रभात;
इसी क्रम से यह रोदन गान,
करता प्रकृति बाल छबिमान।

(आकाश पृथ्वी का मुख चूम अपना गान गाता है।)

आकाश—शैशव को अतिक्रांत कर चढ़ विकास सोपान
गान उच्चतम शिखर को प्रकृति नित्य गतिमान,

गान में क्यों रोदन का भान ?
अहो ! वह प्रकृति बाल छबिमान !

[दोनों गाते-गाते क्षितिज पर चढ़ जाते हैं। शनैः शनैः आकाश का मनुष्य-शरीर ऊपर चढ़कर लुप्त हो जाता है और पृथ्वी का नीचे जाकर। एकाएक अँधेरा हो जाता है। पुनः प्रकाश फैलता है और आरम्भ में जो शयनागार दिखा था वह दिखायी देता है। युवक-युवती दोनों अभी भी अपने-अपने पलंग पर सोये हुए हैं। एकाएक युवक उठकर बैठ जाता है और आँखें मलता हुआ आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगता है। वह पतला-सा श्वेत कुरता और धोती पहने है। फिर वह अपने पलंग से उठ युवती के पलंग के निकट जा अंगड़ाई और जमुहाई लेता हुआ उसे पुकारता है।]

युवक—उठो ! अरे ! उठो तो।

[जब वह फिर भी नहीं उठती तब युवक उसके पलंग पर बैठ उसे हाथ से हिलाकर जगाता है। युवती चौंककर उठ बैठती है। वह पतली-सी श्वेत साड़ी और चोली पहने है।]

युवती—(युवक की ओर देखकर) अरे ! तुम हो, बड़ी गहरी नींद लगी थी, क्यों जगा दिया ? (युवक के गले में हाथ डालकर उसके कंधे पर अपना सिर टिका लेती है।)

युवक—एक कारण से जगाया है।

युवती—(चौंककर युवक की ओर देखते हुए) क्यों ? स्वास्थ्य तो अच्छा है न ?

युवक—हाँ, हाँ, बिलकुल अच्छा है।

युवती—फिर क्यों जगाया ?

युवक—मैंने आज बड़ा अद्भुत स्वप्न देखा है।

युवती—**(अँगड़ाई लेते और लेटते हुए)** वाह, वाह ! स्वप्न सुनाने के लिये मेरी नींद सत्यानाश की। प्रातःकाल न सुना सकते थे ?

युवक—प्रातःकाल तक भूल जाता तो, स्वप्न प्रायः मनुष्य भूल भी तो जाता है।

युवती—भूल जाते तो भूल जाते। तुम्हारे स्वप्न सुनने की अपेक्षा मेरी नींद कहीं अधिक आवश्यक थी। **(करवट ले, उसकी ओर पीठकर सोने का प्रयत्न करती है।)**

युवक—**(झुककर उसका मुँह चूमते हुए)** जब तक मेरा स्वप्न न सुन लोगी, मैं न सोने दूँगा।

युवती—देखो, यह तुम्हारी बड़ी जबर्दस्ती है। रात को सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर जा रही है या चक्रवत् घूम रही है, इस पर वाद-विवाद करते-करते आधी रात बिता दी, और अब स्वप्न सुनाने को उठा दिया, फिर सोना चाहती हूँ तो सोने नहीं देते; यह भी कोई बात है ?

युवक—अरे ! जिस पर वाद-विवाद किया था वही स्वप्न तो मैंने देखा है। ऐसा स्वप्न है कि सुनकर तुम भी दंग रह जाओगी। सुनो तो।

[जब वह फिर भी नहीं उठती तो युवक उसे गुदगुदाता है।]

युवती—(हँसते हुए) तंग करोगे ही ? न सोने दोगे ?

युवक—(हँसते हुए) जब तक स्वप्न न सुन लोगी तब तक कभी न सोने दूँगा।

युवती—(उठकर अँगड़ाई लेते हुए, पुनः युवक के गले में हाथ डाल, अपना सिर उसके कंधे पर रख, जमुहाई लेते हुए) अच्छी बात है, सुनाओ।

[युवती मुसकराते हुए स्वस्थ होकर बैठती है। युवक उसी के निकट बैठता है।]

यवनिका

समाप्त